

मूल्य : सात रुपये,

© सच्चिदानन्द वा०. आयन

प्रथम संस्करण : १९७१

प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०

८, फौज बाजार, दिल्ली-६

मुद्रक : जी० आर० कम्पोजिंग एजेंसी।

शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस, नवीन शाहदरा, दि

आवरण : रिफॉर्मा स्टूडियो







है, हुमा तो । लेकिन जानने और जानने में अन्तर होता है और इसी-  
लिए पाये हुए उत्तर और दिये जा सकने वाले उत्तर में भेद करना आवश्यक  
ही जाता है ।

वास्तव में इन दो उत्तरों के बीच में जो तनाव रहता है वही मुझे लिखने  
की प्रेरणा देता है । सायद कला मात्र में जो शक्ति सृजन की प्रेरणा बनती  
वह यही तनाव है—जाने हुए उत्तर और दिये जा सकने वाले उत्तर के बीच  
जो तनाव । लेकिन इस तनाव का हल या उसे हल करने का प्रयत्न है ।  
लेखन इस तनाव का हल नहीं हो सकता, क्योंकि अगर संवेदन है तो नया  
अनुभव नया तनाव पैदा करता है—ज्ञान के क्षेत्र के विस्तार के साथ जाने हुए  
उत्तर और दिये जा सकने वाले उत्तर के बीच नयी दूरी पैदा हो जाती है ।

इसी से हमें लेखक—अथवा कलाकार मात्र—के लिए चिरयात्री का  
तीक मिलता है । अपने से इतर उस दूसरे की ओर अपनी यात्रा में, वह बीच  
की दूरी को—दूरी को ही, निरन्तर मिटाता चलता है । —उस दूसरे की ओर  
अपनी यात्रा में, जिसमें वह जानता है कि उसकी अपनी प्रतिसूति भी है ।  
ह सहज ज्ञान ही उसे यह आस्था देता है कि उस दूसरे तक पहुँचा जा सकता  
और उससे सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है—कि उससे समालाप सम्भव  
, कि सम्पर्क की एक भाषा अवश्य है, केवल सही शब्द मिल जायें तो ।

भागन के पार

द्वार खुले

द्वार के पार भागन

भवन के और-छोर

सभी मिले—

उन्हीं में कहीं खो गया भवन ।

कौन द्वारी

कौन भागारी, न जाने,

पर द्वार के प्रतिहारी को

भीतर के देवता ने

किमा बार-बार पा-सागन ।

(भागन के पार द्वार)

केवल सही शब्द मिल जायें तो ।' लेखक के नाते, और उसमें भी प्रथि-  
वि के नाते मैं अनुभव करता हूँ कि यही समस्या की जड़ है । मेरी सोच  
भाषा की सोच नहीं है, केवल शब्दों की सोच है । भाषा का उपयोग मैं

करना है, निम्नोद्देश, लेकिन कवि के नाते जो मैं कहना हूँ वह भाषा के द्वारा नहीं, केवल शब्दों के द्वारा। मेरे लिए यह भेद महत्त्व रखता है।

भाषा का मैं उपयोग करता हूँ। उपयोग करना है लेखक के नाते, कवि के नाते, और एक साधारण सामाजिक मानव प्राणी के नाते, दूसरे सामाजिक मानव प्राणियों से साधारण व्यवहार के लिए। इस प्रकार एक लेखक के नाते मैं कला-मृदुल के माध्यमों में सबसे अधिक वेध माध्यम का उपयोग करता हूँ—ऐसे माध्यम का जिनको निरन्तर दूषित और मस्काराध्युत किया जाता रहता है। अथवा उसका उपयोग मैं ऐसे ढंग में करना चाहता हूँ कि वह नये प्राणों में दीप्त हो उठे। ऐसा मैं कैसे करता हूँ या कर सकता हूँ? अपना ध्यान शब्द पर—हमेशा शब्द पर—केन्द्रित करके ही।

निम्नोद्देश दूसरी कलाएँ भी वेध हैं। इन सभी को व्यापारिक, लौकिक, पापुलर बनाया जा सकता है और निरन्तर बनाया जाता है। लेकिन चित्रकारी किये बिना, गाये बिना, पन्धर या सफ़ाई उकैरे बिना भी सामाजिक हुप्पा जा सकता है, बोले बिना सामाजिक नहीं हुप्पा जा सकता। भाषा को ही यह चिन्तित विशिष्टता प्राप्त है कि उसे निरन्तर और अनिवार्य होतकर संस्कार का शिकार बनना पड़ता है।

शाब्द 'हीन' मस्वार का प्रयोग मैं जैसे कर रहा हूँ उसका कुछ स्पष्टीकरण आवश्यक है। भाषा के बारे में कोई झूठा आभिजात्य या स्नाइरी मुक्तम नहीं है। लेकिन इस बात पर मैं जोर देना चाहता हूँ कि जो विभिन्न प्रविष्टाएँ काम कर रही होती हैं उनमें गुणात्मक भेद होता है। किसी भी कला-माध्यम का जितनी उसकी क्षमता है उससे कम कहने के लिए उपयोग करना उसे घटिया संस्कार देना है, मस्वारघट करना है, उसका बहारा-इजेशन है। कवि का उद्देश्य केवल शब्द की निहित सत्ता का पूरा उपयोग करना नहीं बल्कि उसकी जानी हुई सम्भावनाओं के परे तक उसका विस्तार करना है। जैसे साधारण व्यवहार में किसी नये व्यक्ति से परिचित होने पर हम जब कहते हैं कि हम कुनार्थ हुए अथवा मुग्ध हो गये तो हमारा अभिप्राय कुल इतना ही होता है कि हम आशा करते हैं कि यह नया सम्पर्क सुखद अथवा प्रीतिकर होगा, या कि जब हम जो केवल साधारण रम्य है उसे समंस्पर्शी अथवा विमुग्धकारी कहते हैं, तब हम इन अर्थगर्भ शब्दों का बहुत ही साधारण अर्थ के सम्प्रेषण के लिए उपयोग करते हैं। दूसरी ओर जिन किसी ने भी अच्छा वाक्य पढ़ा है उसने लक्ष्य किया होगा कि कवि शब्दों का न केवल भर-पूर मार्थक प्रयोग करता है बल्कि कभी-कभी शब्दों या वर्णों का उपयोग न

पारने ही घण्टे की वृद्धि करता है—यानी शब्दों का ही अर्थग्रहण उपयोग नहीं, अर्थग्रहण ही शब्दों का भी उपयोग करता है। मुझे हमेशा लगा है कि यही भाषा का धोखा बतलावक उपयोग है—त्रिगुण न केवल शब्दों के निहित और सम्भाव्य अर्थों का पूरा उपयोग किया जाता है बल्कि उन अर्थों का भी जो नि शब्दों के धीप के सम्बन्धीन अन्तराल में भरे जा सकते हैं। मैंने अब कहा “बेवचन यही शब्द मिल जायें तो”, उसका यही अर्थ है। यही शब्दों में ही है जो उनके धीप के अन्तराल का भरण अधिक उपयोग करें—अन्तराल के उग मोन द्वारा भी अर्थवत्ता का पूरा ऐश्वर्य सम्प्रेषित कर सकें। दमना ही नहीं, पूरे की पूरा परम्परा के उत्तराधिकारी के नाते मैं यहाँ तक कह सकता हूँ कि कविता भाषा में नहीं होती, वह शब्दों में भी नहीं होती; कविता शब्दों के बीच की मोरबताओं में होती है। और कवि महज बोध से जानता है कि उसने दूसरे तक पहुँचा जा सकता है, उससे संताप की स्थिति पायी जा सकती है, क्योंकि वह जानता है कि मोन के द्वारा भी सम्प्रेषण हो सकता है।

मुझे तीन दो शब्द  
कि मैं कविता कह पाऊँ ।  
एक शब्द वह :  
जो न कभी जिह्वा पर लाऊँ ।  
और दूसरा :  
जिसे कह सकूँ  
किन्तु दर्द मेरे से  
जो ओछा पड़ना हो ।  
और तीसरा सरा धातु  
पर जिसको पाकर पूछूँ  
क्या न बिना इसके भी काम चलेगा ?  
और मौन रह जाऊँ ।  
मुझे तीन दो शब्द  
कि मैं कविता कह पाऊँ ।

एक समय था जब मैं एक वार्तिककारी संगठन का सदस्य था और त्रिगुणी साम्राज्यवाद के विरुद्ध लड़ रहा था ; उस युद्ध में मैंने सभी साधनों का

उपयोग किया—शस्त्री का भी। पिछले महायुद्ध के समय में भारतीय सेना के एक सदस्य के रूप में भारत के सौमान्य पर था ; भारतीय सेना तब अभी ब्रितानी सेना ही थी। उस समय भी मैंने कई साधनों का उपयोग किया जिनमें अग्निवारी जीवन में प्राप्त किये हुए कौशल भी थे। धनमर धाया होता तो और भी साधनों का उपयोग मैंने किया होता। आज मैं दिल्ली से एक राजनैतिक समाचार-माताहिक का सम्पादन कर रहा हूँ। इनमें से किसी कार्य का भी मुझे अनुसोच या परिताप नहीं है। इनमें से कोई भी कदाबार के जीवन का अनिवार्य भंग नहीं है, पर दूसरी ओर इन कामों में और बाध्य-रचना में कोई विरोधाभास भी दीखता है तो मैं अपनी सफाई में निम्नकोच बान्टर ह्विटमैन की एक उक्ति का सहारा ले सकता हूँ

मैं अपनी बात का पड़न करता हूँ।

तो ठीक है, मैं अपनी बात का खंडन करता हूँ।

मैं बिराट हूँ - मुझमें विविध समूह समा जाते हैं।

लेकिन विरोध का बेशक आभास है, वह वास्तविक नहीं है। वास्तव में उन सब अनुभवों ने मुझे जो मैं हूँ वह बनाया है और अपनी बात कहने का माहम दिया है—अपनी भूले स्वीकार करने का और अपने विश्वासों को घोषित करने का—यह मानते हुए भी कि वे विश्वास निराधार भी मिट हो सकते हैं और उन्हें बदलना, शोधना या छोट भी देना पड़ सकता है। लेखक के नाते मैंने समाज में कोई विशिष्ट स्थान या सहूलियत नहीं चाही है। समाज के एक सदस्य के नाते मैंने स्वतंत्रता के लिए, सामाजिक न्याय के लिए और मानव-व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए, विशालतर सामान्य उद्देश्यों की सिद्धि के प्रयत्नों के लिए आग्रह करना अपना कर्तव्य समझा है, कवि के नाते मैंने उस कर्तव्य से मुक्ति कभी नहीं चाही। बल्कि इसके प्रति-रूप कवि के नाते भी मैंने कुछ मूल्यों पर आग्रह करना आवश्यक समझा है। और इन मूल्यों के लिए अपने प्रयत्नों पर किसी तरह की रोक या नियन्त्रण लगाने का समाज का कोई अधिकार मैं नहीं मानता। ये मूल्य और ये प्रयत्न हैं मेरे कला माध्यम और सभी कला माध्यमों की शुद्धि और सत्कारिता के लिए अनवरत प्रयत्न ; व्यावहारिकता या प्रत्युत्पन्न लाभ से ऊपर स्थायी नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा—(यह मानते हुए कि ज्ञान-क्षेत्र के विस्तार के साथ नैतिक मूल्य अपने-आप परिवर्तित हो सकते हैं), धनभूति की प्रामाणिकता, सोचने, मानने, धर्मिष्ठ बन करने, वरण करने और होने पर्याप्त प्रस्तित्व



रखने की व्यवस्था की व्यवस्था... सम्पूर्णता (कमिटमेंट) का विचार और देशों की भाँति मेरे देश में भी होता रहा है और अब भी जारी है। दमकी जायद सभी आरम्भता भी है क्योंकि सभी जायद बहुत में लोगों को दमके निहित प्रयोग का ग्राह्य निमित्त करना है। लेकिन जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, यद्यपि मैं अब भी हर किसी की बात ध्यान में गुनता हूँ और सभी-कभी विचार में भाग भी लेता हूँ, मुझे लगता है कि अनुभव ने मुझे सफल के द्वार और भुलने में यादों निवास कर लेगी जगह पहुँचने का मार्ग दिया दिया है जहाँ मैं मैं परिवेश को भी देख सकूँ और मापनों और उपकरणों का प्रयोग सीधे-सीधे उपयोग कर सकूँ। लेकिन मैं केवल आत्मपूर्ण नहीं होता बल्कि उसकी सम्पृक्ति बोहरी होती है—वह निरन्तर दो मोर्चों पर सड़ता है। यह तो सम्भव है कि यह सभी एक मोर्चे पर और सभी दूसरे मोर्चे पर बल मजह करे ; लेकिन किसी एक मोर्चे को छोड़ देने में यह भारी जॉयिम उठावेगा।

यात को यों कहने में सग सजता है कि लेगक की परिस्थिति बड़ी संस्ट-पूर्ण और अप्रीतिकर है। वास्तव में ऐसा नहीं है। वास्तव में उसकी परिस्थिति अत्यन्त रचिरर और रसमय है। मुझे एक पौराणिक दृष्टान्त याद आता है जिसका समकालीन अर्थ भी है बल्कि जो 'बन्दिस्सो यूमेन' —मानव नियति—का उसके आधुनिक पश्चिमी अस्तित्ववादी निरूपण की अपेक्षा कहीं अधिक सच्चा प्रतिबिम्ब है।

बाध, से बचने के लिए एक मनुष्य पेठ पर चढ़ता है और उसकी दूरतम शाखा तक पहुँच जाता है। उसके बोझ से आरस भुक्कर उसे एक अर्थ कुएँ में लटका देती है। ऊपर दो चूहे आरस को काट रहे हैं, नीचे कुएँ में अनेक साँप फुफकारते हुए उसके गिरने की प्रतीक्षा कर रहे हैं। इस अत्यन्त सकटापन्न परिस्थिति में वह देखता है कि कुएँ की जगत से घास की एक पत्ती उसकी ओर झुकी हुई है और उसकी नोक पर मधु की एक बूँद काँप रही है। वह जीभ बढ़ाकर मधु चाट लेता है—और कितना सुस्वादु है वह मधु "

कितना सुस्वादु, अनिवर्चनीय स्वादिष्ट मधु... हम सभी ने, प्रत्येक ने अपने अलग दम से उस मधु का स्वाद जाना है जो कि हमारा जीवन है। लेकिन मैं समझता हूँ कि जिन्होंने मधु के साथ-साथ अपनी अवस्थिति का भी आस्वादन किया है, उन्होंने अस्तित्व का गम्भीरतर अनुभव प्राप्त किया है, क्योंकि उनके लिए अवस्थिति का स्वाद भी मधु के स्वाद का एक अंग बन गया है। और उनके लिए मधु के प्रति सम्पृक्ति में अवस्थिति के साथ सम्पृक्ति (कमिटमेंट) भी अनिवार्यतया निहित है। और दृष्टान्त का सार

तो यही है कि यह (अग्निववादी मुद्गारे की) 'चरम परिस्थिति' कोई ऐसी चरम परिस्थिति नहीं है, क्योंकि वह सार्वभौमिक है, माधारण है। महत्त्व की बात इसके प्रति खेद होना ही है : पहचान होने ही व्यक्ति की अवस्थिति व्यापक सार्वभौमिक अवस्थिति में एकात्म हो जानी है और हमारी तात्कालिक विन्नाएँ उस एक चरम चिन्तन में परिणत हो जानी हैं जो कि आधुनिक व्यक्ति के लिए आस्था, विश्वास, धर्म या उसे और जो कुछ भी नाम दे दें उसका पर्याय है—यह ठोस आधारभूतता जिस पर वह मूल्यों की इमारत खड़ी करता है—इस आशा के साथ ही कि वे टिकाऊ सिद्ध होंगे।

भीड़ों में

जब-जब जिम-जिमसे आँसू मिलती हैं

वह महमा दिल जाता है

मानव :

अगार-मा—भगवान्-सा

भवेना।

और हमारे सारे सोच-चार

राज की युगो-युगो की परते हैं।

---

बेधोप्राद (बेलग्रेड) रेडियो से जून, १९६६ में प्रसारित वक्तव्य। मूल हिन्दी वक्तव्य के कुछ अंश और कविता के उद्धरण लेखक के स्वर में प्रसारित किये गये थे, पूरे वक्तव्य का मृत्की-ह्यावात्सी (सर्वो-ओरिएण्टल) अनुवाद पढ़ा गया था।

## लेखक और परिवेश

परिवेश की समस्या को कई तरह से देखा जा सकता है। मैं लेखक की दृष्टि से ही देखना चाहता हूँ। मानो सबसे पहले अपने को ही यह चेतावनी दे देना जरूरी है कि मैं लेखक हूँ। लेखक हूँ, इसलिए परिवेश की समस्या मेरे लिए लेखक की समस्या है। मैंने बार-बार देखा और सुना है कि लेखक भी जब इस समस्या पर विचार करते हैं तो मानो यह बुनियादी बात भूल जाते हैं।

यह नहीं कि दार्शनिक या अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री या नृत्यशास्त्री इतिहासवेत्ता के पाए हुए या पेश किए हुए जवाब मेरे काम के नहीं हैं। जरूर काम के हैं। लेकिन बात यह है कि उनके पाए या सुझाए हुए जवाबों में से मेरा जो कुछ लाभ हो सकता है, उसका उपयोग जब मैं कर चुकता हूँ तब जो समस्या बचती है वही मेरी समस्या है : मुझ लेखक की असल समस्या !

और बात दोहराना लेखक की दृष्टि से शब्द-शक्ति का अप्रत्यक्ष है। उनकी यात्राएँ मैं क्यों दोहराऊँ जबकि वे सब मिलकर एक मजिल तक मुझे पहुँचा गये हैं और वही से मेरी अपनी यात्रा आरम्भ होती है ?

उनकी कृपा से (या उनके परिश्रम से) मुझको यह सुविधा मिली है कि मैं बहुत सी बातें मानकर चल सकूँ—जिसे स्वयंनिष्ठ कह सकते हैं, उसे निष्ठ कहने का परिश्रम न करूँ।

परिवेश बदलता है, और उनके साथ मूल्य बदलते हैं, यह मैं दिया कृपा मानकर चलता हूँ, इसका उदाहरण या इसका प्रमाण आवश्यक मानता हूँ।

परिवेश—जो मेरे सामना है—वह बेचन बाप नहीं है, उसका होता



है। उनके यज्ञों का, उनकी दिग्विजय-यात्राओं का ही यह परिणाम है। आज सवेदना-जगत् में एक प्रकार का चक्रवर्तित्व में भोग सकता हूँ। भ्रम पर यह भी बोझ है कि इस अपने पाये हुए जगत् का मैं और विस्तार करूँ, और अगर मैं अच्छा लेखक हूँगा तो अवश्य यह करूँगा—या बात को लटकर कहूँ कि अगर और जिस हद तक मैं ऐसा करूँगा तभी और उमरी तक मैं अच्छा लेखक हूँगा।

लेकिन आभार-स्वीकार के बाद भी यह बात तो सच रह ही जाती कि प्राचीन लेखक का संसार मेरे समार से इस अर्थ में छोटा था कि वह एक स्थितिशील परिवेश में रहता था। उसका संसार सीमित था। अब-तब उस संसार में वृद्धि होती थी—नये देश, प्रदेश उसमें जोड़े जाते थे, लेकिन यज्ञानुष्ठानपूर्वक उनके जोड़ लिये जाने तक वे संसार से गहर ही रहते थे—यानी परिवेश ज्यों का त्यो रहता था। अनुष्ठान द्वारा नयी भूमि को अपने संसार में प्रतिष्ठित कर लेने पर एक नया, अपेक्षया बड़ा आयाम और सम्बन्धों की दृष्टि से कुछ बदला हुआ संसार-परिवेश मिल जाता था, लेकिन यह केवल एक नयी स्थिति होती थी; परिवेश की स्थितिशीलता में इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता था। और यह बात देश के विस्तार के बारे में जितनी सच थी, काल के नियन्त्रण के बारे में भी उतनी ही सच थी। क्योंकि काल भी यज्ञ के द्वारा अपने स्थान पर प्रतिष्ठित किया जाता था। कितनी सुखद, सहज और सीमित थी वह स्थिति, जिसमें यज्ञ के द्वारा काल को अपनी धुरी पर फिर से स्थापित कर दिया जा सकता था। हैम-जैट ने कहा था - टाइम इज आउट आफ जॉएंट। हम इस अवित के पास वापस आ सकते हैं, लेकिन वैदिक ऋषि के लिए वह निरर्थक या निरर्थकप्राय थी—निरर्थकप्राय इसलिए कि उसकी खूब उलझ भी गई होती तो यज्ञ के द्वारा काल को फिर ठीक ठिकाने प्रतिष्ठित कर दिया जा सकता था—उसमें परिवर्तन की बात क्या थी?

मैंने शम्भू की क्या पढ़ी है। मैं उसे कभी उस अर्थ में नहीं ग्रहण कर पाया जिसे अर्थ में मुझे समझाई जाती रही है। शम्भू बेदाध्ययन कर रहा था या कि यज्ञ करने जा रहा था, वर्णान्तर कर्म का यज्ञ छोड़ा-या अघराध कदापि उम दण्ड का भागी नहीं था जो उसे मिला। इतना ही क्यों, यज्ञ प्रदान कोई क्यों नहीं पूछता कि सूत्र की तपस्या में दाना क्या था कि शास्त्र का क्या मर जाये, तो शास्त्र का शास्त्रान्वय का क्या बुरी बना गया था? क्या उसकी भीमा घड़ी थी कि राजा के सामने जाकर रिरिया से? क्यों नहीं राम



यहाँ पश्चिम के विज्ञान का नाम लेना जरूरी नहीं है—या कि विज्ञान के नाम के साथ पश्चिमी का विशेषण जोड़ना जरूरी नहीं है—लेकिन सुविधा के लिए उसे पश्चिमी विज्ञान कहते हुए माना जाए कि आधुनिक दुनिया को इतना बड़ा कर देने में और इस प्रकार मेरी समस्या कठिनतर बना देने में उसका महत्वपूर्ण योग है। यह योग ज्ञान की परिधि के विस्तार में ही नहीं है, ज्ञान के स्वभाव में भी है, विकासवाद के सिद्धान्त ने जीव-जातियों के विकास की बात से प्रारम्भ करके केवल प्राणियों को ही नहीं, हर चीज को सापेक्षा के एक क्रम में रख दिया है—जीव को, मनु को, नैतिकता को, मूल्यों को, यथार्थ को। जो कुछ भी हमारे ज्ञान की पकड़ में आ सकता है या आता है सब बदल रहा है।

लेकिन लेखक के नाते मेरे लिए बात यहाँ धाकर भी टरम नहीं होती। प्राचीन काल के लेखक की उलझन एक स्थिर परिवेश को लेकर थी, मेरी समस्या यह है कि मेरी चेतना एक अनुपलब्ध बदलते हुए परिवेश से उलझ रही है। (कहना न होगा कि यह स्थिरता और यह बदलना, और यह चेतना भी अब न केवल सापेक्ष है बल्कि ये जाने हुए सापेक्ष हैं) पर मेरी एक अतिरिक्त समस्या भी है।

वह यह कि अपनी उलझन के दौरान एक ऐसे स्थल पर पहुँच जाता हूँ जहाँ मैं भी अपना परिवेश हो जाता हूँ।

मैं जो आज लिखता हूँ वह छपकर लोगों में बँट जाता है। कभी ऐसा भी होता है कि आज ही तीसरे पहर लिखता हूँ और शाम को वह मेझड़ों द्वारा प्रसारित हो जाता है। स्वयं मेरे साथ कम-से-कम एक बार ऐसा भी हुआ है कि मेरा संपादक उन्वयाम ही छपकर कई लोगों तक पहुँच गया है और संपादन निगम में पढ़ते उनके टीका-टिप्पणी और उनके मुझाव भी मुझ तक पहुँच गए हैं—मेरे लोगों के जो प्रतिष्ठित लेखक और समालोचक हैं और जिनकी राय का मैं स्वयं सम्मान करता हूँ। और यह तो आश्चर्य होता है कि लोग लिखते लिखे हुए के सामान पर आगे विचार करने वाले के बारे में अनुमान करते हैं, धारणाएँ बनाते हैं, धारणाएँ और लक्ष्य करते हैं और अनिष्ट लेखन पर जेम्सो दे देते हैं। याद का हर लेखक इस स्थिति में परिवर्तित होता जिसमें उगाती होने का लेखक उगाते याद के या सामाजिक के लेखन पर शरीर हो रहा है, पुराने प्रमाणों में विस्तृत विश्लेषण की बात को एक एक एक लेखक अनुभव हुआ हो तो हुआ हो, लेखक की साधारण व्यवस्था का ध्यान नहीं करती बल्कि यह कि लेखक की निराला जहाँ भी मुँह धारों हो बड़े को धानी पीठ पर लादे सामान कागद





भगर मगमुन ऐमी कोई जगह है—और मैंने कहा कि ठीक ऐसी ही जगह हम गढ़े हैं, जो रहे हैं, जीने भी जाने को बाध्य हैं, तो इस जगह सभी कुछ परिवेग है—हम भी, मृत्यु भी। यही सभी परिवेग है—परिवेग ही परिवेग है।

यही घमियाता का संकट है। यह जिने गाँवोत्तरी सेगक अपनी हिन्दी में साइटेडिटी का आइतिहास कहता है।

निस्सन्देह इस संकट का बोध सबको एक-आ नही है, हो नही सकता। और क्यों हो? निस्सन्देह जिनको संकट का जितना भी बोध है उन सबकी प्रतिक्रिया भी एकसी नही है। क्यों हो? पर इतना शायद निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इस संकटप्रस्त अस्मिता का बोध सब आधुनिकों को है। भूति और अस्ति का अस्तित्ववादी (एग्जिस्टेंशियलिस्ट) पचड़ा उठाने की उल्टा नही है क्योंकि मैं लेखक के नाते ही बात कर रहा हूँ। और लेखक के लिए भूति और अस्ति के सूक्ष्म पारिभाषिक भेद में पड़े बिना भी संकटप्रस्त अस्मिता की बात की जा सकती है जिसका बोध हर आधुनिक को है।

क्योंकि बोध के स्तर या विस्तार है और प्रतिक्रियाओं की मात्राएँ या प्रकार हैं, इसलिए बहुत-सी विवृतियाँ भी देखने में आती हैं। उनके दर्शन भी बन गये हैं। अस्मिता के संकट की अनेक प्रतिक्रियाएँ आज के आलोचना-साहित्य में (या कि अभी उसे आलोचना-पत्रकारिता ही कहा जाये, ) दीखती हैं, और प्रायः सभी पत्र-पत्रिकाओं में, कुछ पुस्तकाकार भी, छपे हुए कृति-साहित्य में देखी जा सकती है—विशेषरूप से कविता और कहानी में जो कि, सुनते हैं, इसर के साहित्य की सबसे समर्थ विधाएँ हैं—अव्वल नम्बर पर कहानी, दोसम पर कविता।

अस्मिता के संकट में नकार की अनेक मुद्राओं को भी प्रेरित किया है। नकार एक तो वह है, जो पहचानकर मानता है कि जब मैं और मूल्य दोनों परिवेश ही हो गये तब न मैं रहा और न मूल्य रहे। एक दूसरा नकार है जो इस नगण्य कर दिए जाने के विरोध की चीख है। एक इतर अस्मिता या दूसरे स्तर के लिए मूल्य का आग्रह है।

भय, मन्त्रास, अजनबीपन, 'ड्रेड,' 'एलिनिऐशन,' मतलबी—एकाएक बहुत से शब्द हमारी आलोचना और हमारे साहित्य में आ गये हैं, कुछ मूल विदेशी भाषा में और कुछ देशी पर्याय-रूप में, लेकिन पर्याय की खोज में निरंतर



साहित्य दिकेगा। जो निराला पीड़िततामय है, जिनसे छात्र के भय, मान, सज्जनगीरत, मानवी धार्मिक वा भयभूर वाय पाठक प्रथम दृष्टीया पर तो हो सकता है कि वेगा साहित्य छात्र की स्थिति के धारणा का धारण प्रतीत दे। पर रास्ते की छात्र भी स्थिति का एक प्रत्यक्ष तथ्य है; इस तथ्य की उल्लेख नहीं की जा सकती और जिन साहित्य में छात्र के धारणा के दुर्गम का रंग है, लेकिन इस बाह्य धीरे गहनता का धारणा नहीं मिलता, वह उन हर एक स्थिति का अभूत ही सम्प्रेषण कर रहा है : धारणा का जो धारण है उगमं घोषा घोषा भी, धारण भी है, तरंग की उतनी नमी है।

यही राजमार्ग ; धीरे-धीरे रास्ते सही, पगडंडियाँ सही, रास्ते चलन-चलन और-रास्ते भी सही। लेकिन समस्या अगर यह है कि अस्मिता का सच है तो सच भी स्पष्ट है : कि सच का निवारण करके अस्मिता को रक्षा की जाये अस्ति-बोध फिर से प्रतिष्ठित किया जाये। और जब ये दो बिन्दु निश्चित तो कुछ तो सकेत होना चाहिए कि रास्ते क्या और कैसे हैं या हो सकते हैं।

एक रास्ता तो सीधा है। यह कर्म का—एकान का—रास्ता है। लेकिन यह अचरित से ज्यादा सीधा रास्ता है। कर्म के द्वारा अस्मिता की उपलब्धि कर्म में अस्ति की पहचान (निरसदेह यह एक प्रकार का कर्मयोग है, धारुणि कर्मयोग, और उत्पत्ति भी वह रूप जिते परिणम धारणा की गहन करेगा), रास्ता तो है, पर यह साहित्य-कर्म से असम में जाने वाला रास्ता है—यानी इस में साहित्य-लेखन 'कर्म' नहीं है।

दूसरा साहित्य से कम हटता हुआ रास्ता यह है जिसके लिए प्रथम चरण से नाम चल रहे हैं : कुछ अमेज़ी-कासीसी में, कुछ उन्ही के बंग के, कुछ उन अनुवाद, और कुछ ऐसे भी अनुवाद जो कि वास्तव में मूल रास्ते के अर्थ प्रत्यास्थान करते हैं। लेकिन जब एक विशेष अर्थ में चला दिए हैं तो चलते मा लिए गये हैं। कमिटमेंट, एग्रेजमेंट, इम्बाल्वमेंट, प्रतिबद्धता, निष्ठा, अस्ति की लोच, ईमानदारी...

अवश्य ही कुछ साहित्यकारों ने पहला रास्ता अपनाया। उसके बाद बितने ग सापेक्ष रहे कि फिर भी उन्हें साहित्यकार गिना जाये, इस पर भ्रम हो सकती (है, 'भूतपूर्व' साहित्यकारों का एक वर्ग हो तो उसमें उन्हें जरूर रखा

होगी। (यों शायद मुझे यह भी वह ही देना चाहिए कि चुनौती को भी मैं केवल विनयवश ही करने तक सीमित रख रहा हूँ, यह कैसे हो सकता है कि वह चुनौती पाठक को भी न हो जबकि वह भी उसी समार में रहना है, और जबकि लेखक के नाने मेरा अविराम प्रयत्न यह है कि मेरा और मेरे पाठक का समार एक हो और जिस-जिम दशा या आयाम में दोनों एक न हो वहाँ विस्तार द्वारा उन्हें एक कर दिया जाए—उतना और वसा एक त्रिमके लिए ज्यामिति की भाषा में कहा जाता है कांफ़्रुंटे इन आंल रेस्पेक्ट्स।

नये लेखक और पुराने लेखक में—प्राचीन काल के लेखक और समकालीन लेखक में, भेद स्पष्ट करते हुए मैं भूल गया था कि आज भी कुछ नये लेखक हैं जो पुराने हैं जैसे कि प्राचीन काल में कुछ लेखक रहे होंगे जो मरे लगे। आज भी कुछ ऐसे लेखक हैं जो अभी सदर्भ में जीते हैं। परिवेश की उनकी सकल्पना उसी अर्थ में स्थितिशील है। उनमें से कुछ प्रगति में भी विश्वास करते हैं लेकिन प्रगति भी उनके लिए एक प्रक्रिया नहीं, स्थितियों का एक क्रम है—एक स्थिति में दूसरी स्थिति में अवतरित (या कि अब प्रत्यक्ष पर उनकी ओर से सम्भाव्य आपत्ति का विचार करके नहीं उत्तरित) होने का क्रम। ऐसे भी हैं जो प्राचीन काल के सन्दर्भ को पूरी तरह आत्मसात् करते हुए सनातन धर्म करते हुए तो नहीं जी सकते, लेकिन मान लेते हैं कि आज भी वेदों की याद-भर से ऋतु को फिर प्रतिष्ठित कर लेंगे। वेद मेरे लिए अत्यन्त मूल्यवान् हैं, जबकि जो हैं उनके लिए मूल्यवान् शब्द कुछ छोटा ही पड़ता है। उन्हें थोड़ा-थोड़ा करके पड़ता भी है और जब तक एक-एक शब्द में एकाएक ऐसा नया अर्थ मिलता जान पड़ता है (मेरे लिए नया, सम्भव है कि वास्तव में वह बहुत पुराना अर्थ था या बहुत ही पुराने अर्थों में से एक रहा हो), जिसे उन्मेष, नई दृष्टि भी कहा जा सकता है और जिसके सहारे पुराना पड़ा हुआ बहुत-सा एकाएक निरा पड़ा हुआ न रहकर जाना हुआ हो जाता है—निरी जानकारी को का एन समूह बिछा हो जाती है। और ऋतु की परिवर्तना को मैं अर्थ-प्रतिभा की महान् उपन्यासियों में मानता हूँ। 'क्या मैं ऋतु में जीता हूँ?' यह प्रश्न करने में पूछना ही, पूछ गहने की स्थिति में अत्यन्त क्षण के लिए होता भी, भीतर-बाहर से धुल जाने के बराबर मरना है—आस्तिक के लिए यदा-नान में अधिक पावनकर।

आधुनिक स्थिति की पहचान होते ही वह ईस सकट को भाँप लेगा और पहचान लेगा कि यह दूसरो का ही नहीं, उसका भी सकट है; भले ही कुछ दूसरो के सिर पर सवार हो और खुद उसके सिर पर सवार न भी हो तो कंबी नगाकर उसे पटक दी देने की तैयारी कर रहा हो।

और यह मैंने कहा तो नहीं, लेकिन देखने की कोशिश की, कि इस तरह का सामना करने का क्या रास्ता हो सकता है। या कि क्या-क्या रास्ते हो सकते हैं जिनमें से कौन-सा रास्ता जायद अच्छा है—या कि लेखक के नाते सबसे अधिक अनुसरणीय है।

यह सन्दर्भ है जिसमें लेखक के नाते मैं जीता हूँ या कि जिसमें अपने को जीता हुआ पहचानता हूँ। मैंने कहा कि मेरा परिवेश बहुत बड़ा है। यह बात आपेक्षिक रूप से भी सच है और आत्मान्तिक रूप से भी। मेरा परिवेश प्राचीन लेखक के परिवेश की तुलना में भी बहुत बड़ा और अपने-आपमें भी बहुत बड़ा है। उसमें एटमबम है और भूदान है; ई० ई० सी० है और नाटो है, पी० एल० ४०० है और बीएतनाम है, 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' है और नापू-ता है, काचिका चकला और तिम्मा रेड्डी है और क्लिनिक और यूरी गगारिन है, अफ्रो-एशियाई एकता और कागो और अगोला है, भारत का स्वाधीन राष्ट्र है और पीलू मोदी हैं, हाइपोथैलामस ग्रन्थि है और शतदल पद्म है—सभी कुछ है। जो बहुत से लोगों के लिए 'या' हो गया है, वह भी है, जो बहुत से लोगों के लिए 'होगा' की कोटि का है वह भी है, और जो है वह तो है ही और निरन्तर फैलता जा रहा है जैसे कि यह विश्व बहारा भी फैलता जा रहा है।

मेरा परिवेश जितना बड़ा है और बड़ा होगा जाता है, उतना ही मैं छोटा और छोटा होता जाता हूँ, यह तो ठीक ही है। बल्कि इसे तो स्वयंमिद मान लिया जा सकता है। पर सन्दर्भ के नाते यह जितना बड़ा है या होगा जाता है, उतना मेरा मवेदन भी विस्तृत और गहरा होता जाता है, और उतना ही मेरा मवेक्षण भी विस्तारित और गम्भीरतर होता जाता है।

यह मवेदन का विस्तार, यह मवेक्षण की गंभीरता, मेरे ज्ञान-क्षम की क्षमता भी है, मेरी उसकी सम्भाव्य उपस्थिति भी है। क्षमता के रूप में है, उसका सामना मुझको ही करना है। मेरे इन उपस्थिति का उद-उत्थान मेरी नहीं है, मेरे उत्थान के नाते क्षमता भी है। यानी क्षमता मेरी होती तो क्षमता भी

ਜਾਂ : ਜਾਂ-ਕਾ ਹੀ ਕਹੀ ਕਰੇ ਜੁਗ ਕਰੇ ਕਿ ਹਮ ਸਾਧਾਸੀਐ, ਧਾਕਾ  
ਮਾਧਾਐ, ਕੇ ਦੇਖੇ ਦੇ ਕੀਤ ਮੇਲਾ ਬਾਧੇ ਏ ।

न. 'काजा दा' वह मैं उगा भी ओर नहीं देगा। वह दादा मैं छोड़ता हूँ—निम्न हो जाता है। मैंने देखा काजा दा यह मैं नहीं कह सकता, मैं जानता हूँ नहीं कि ऐसा मैंने क्या था। काजने का कभी मरना ही मुझे नहीं हुआ। लेकिन जो मरता है वह मेरे सामने है। उसे मैं न छिपाना चाहता हूँ न लिता मरना हूँ। डॉक्टर नहीं तो मेरे इस दमिस्त का प्रकांड सत्य है जो मुझे गन्दम देता है और हाँ, जो मुझे दानवी दमिस्त का बोध देता है।

घोर का लक्ष्य यह है, कि यह मैं हूँ, ये मेरी मृण्मयी हड्डि भुजाएँ हैं, घोर  
यह नाम ही उस जगत्। हृद्य मूर्त है।

यह गद्य है । इस मध्य के माध्य में गहरे राग-महबन्ध में बंधा हुआ है ।  
इसलिए, यह मध्य ही नहीं, यह गद्य है, यह वास्तविकता है ।

यह सम्बन्ध—वाग्द्विजना का और मेरा यह सम्बन्ध—सम्बन्ध का वह रूप जो मेरी संज्ञा का सूत्र है, भवभोक्ता है, भुजमाना है—यह सम्बन्ध हमारा पश्चिम है ।

हम दोनों एक-दूसरे के मन्दर्भ हैं, कुलगना हुआ मैं और जलना हुआ यह सूर्य । इनी निरन्तर भुलगने जाने में मेरी मूर्खों की खोज जारी है । मैंने ऐसा थाहा है वह मैं नहीं बटूंगा , हीरो बनने की सनक मुझमें नहीं है और वह सन्दाह मुझे एक भूट के पत्थर में फँसा देगा यह भी मैं जानता हूँ । लेकिन वह होगा है और होगा रहेगा—यह मेरा अनुसना और सूर्य का सपना और यह मेरी मर्त्य की खोज ।

जो स्वयमिद है उसको सिद्ध करने की मैंने कोई जरूरत नहीं समझी ।  
निश्चिन् जो स्वयमिद नहीं है उसे सिद्ध करने का मेरे पास क्या साधन है ?

जो मैं पहचानता हूँ वह मैं पहचानता हूँ ।

यह सच है; लेकिन उस प्राचीन काल के लेंबुक का भोला विद्वान् मुझमें नहीं है, नहीं हो सकता, मैं नहीं मानूंगा कि हो सकता है, मैं जरूरी नहीं समझता कि हो; मैं चाहता भी नहीं कि कोसिस करूं कि वह फिर से मुझे मिल जाए। अपने सांस्कृतिक दाय का मैं सम्मान करता हूँ, लेकिन अपनी मूल्यवान् सम्पत्ति के साथ तिजोरी में स्वयं बन्द हो जाना न बुद्धि का मार्ग है न जीवन का।

श्रद्धा की उपलब्धियों का सैकड़ों-हजारों वर्ष का संस्कार मुझमें जीता है लेकिन मैं आज के विज्ञान में जीता हूँ। मेरा सन्दर्भ प्राधुनिक विज्ञान का जगत् है, सनातन श्रद्धा का सन्दर्भ मैं—यह आज का तनावजीवी मैं।

ऐसे भी हैं जो कह सकते हैं, कहते हैं कि परिवेश की बात छोड़ो, परिवेश तो दिन-दिन बदलता है, क्षण-क्षण बदलता है, जो ऐसा बदलने वाला है उसकी बात क्या करना? परिवेश की चर्चा छोड़ें, जो स्थायी है उसी की बात करें। मूल्य की बात करें। बल्कि मूल्यों में भी शाश्वत मूल्य की बात करें, साहित्य का मूल्य है रसवत्ता।

हाँ, है। ऐसे लोग भी हैं, उनके बारे में क्या कहें? भाग्यवान् है वे!

भाग्यवान् है वे, लेकिन किस अर्थ में भाग्यवान्? बोदलेयर ने कहा था:

भाग्यवान् है वेन्यामो के प्रेमी

भाग्यवान् और प्रसन्न और तृप्त

किन्तु मैं—मेरी भुजाएँ टूट गई हैं क्योंकि मैंने उनके घेरे में आकाश को बाँध लेना चाहा था।

‘बाँध लेना चाहा था।’ मैं जानता हूँ कि इकारस की यह कल्पना रोमांटिक है। इकारस का मिथक भूति प्राचीन है लेकिन बोदलेयर उसे जिस रूप में देव रहा है, इकारस पर जिन भावनाओं का आरोप कर रहा है वे रोमांटिक हैं। अपने को मर्माह्न महदाकांक्षी के रूप में देवना अपने को हीरो मानना है, भले ही परागत हीरो। यह भी रोमांटिक अन्दाज है। जबकि जिन युग में मैं जीता हूँ वह ऐंटी-हीरो है। (या तो ऐंटी बहुत-बुद्धि है, लेकिन घोर बहुत से ऐंटीर सतही सट्रिबो जैसे भी हैं, ऐंटी-हीरो तो नीचे का प्रवाह है—ग्यार का भराव है। लेकिन यह अन्दाज रोमांटिक अन्दाज जब जिन अवस्था में है? तभी न, जब हर ‘बाँधा था’ पर वन दें मानी महदाकांक्षी होने की मान ग्योकार

क्यों ? और इसी देग में क्यों, जबकि हममें ही कवि को मनीषी माना गया और इसी देग में स्पष्टा को कवि कहा गया ? कमोमें कम और देगों में भी ऐसा होगा; लेकिन हम देग में यह बात अधिक मच है ।

आज का भारतीय लेखक जब पाठक के सम्मुख कुछ कहने खड़ा होता है तो नहीं जानता कि क्या और कितना मानकर वह चल सकता है । वह नहीं जानता कि उसके थोटा क्या पड़ते रहे हैं, क्या-क्या पड़ चुके हैं, क्या पड़ते हैं । अनुमान भी करने चने, तो शायद उसके लिए इसी अनुमान में कम जोखिम होगा कि लेखक का लिखा हुआ तो उन्होंने नहीं पढ़ा होगा, नहीं पढ़ते हैं, कि लेखक की भाषा में या अन्य भारतीय भाषाओं में लिखा हुआ भी अगर कुछ पढ़ा भी होगा तो थोड़ा ही, पढ़ते होंगे तो कभी-कदाचित् ही ।

यानी भारतीय लेखक भारतीय पाठक के सम्मुख खड़े होना होगा तो अधिकतर अजनबी की स्थिति में क्योंकि भारतीय पाठक पाठक तो है, लेकिन भारतीय लेखक का पाठक नहीं है, मुख्यतया विदेशी साहित्य का पाठक है, भले ही अनुवाद के माध्यम में । और जितना ही श्रोता-गमाज 'अच्छा', 'ऊँचा', 'मुगडिन', 'मस्कून' और अधीन है, उतनी ही उसकी विदेशी साहित्य के परिचय की सम्भावना बढ़ती जाती है, और भारतीय साहित्य में परिचय की सम्भावना घटती जाती है । छात्रादी के बीस वर्षों में इस स्थिति को सुधारा नहीं है बल्कि शायद और बिषम ही किया है । राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली में तो यह बिल्कुल सम्भव है कि आप हजार पड़े-लिखे व्यक्तियों की सभा में बोलने जायें और सभा में एक भी व्यक्ति ऐसा न हो जिसने पिछले एक वर्ष में एक भी भारतीय भाषा की एक भी पुस्तक पढ़ी हो ।

और जैसे यह समस्या थोड़ा वर्ग की शिक्षा के स्तर के साथ-साथ बढ़ती जाती है, ठीक वैसे ही लेखक की गम्भीरता के साथ भी बिषमतर होती जाती है । ऐसे 'सफल' और 'लोकप्रिय' लेखक हैं, जिनकी पुस्तकें गूँघ छानी हैं और कुछ बिकती हैं, और तब बिकती हैं तो मानना चाहिए कि सूत्र पड़ी भी जाती हैं । हम लेखकों के बारे में कहा जा सकता है कि वे अवश्य जानते हैं कि उनका पाठक कौन है । आप चाहें तो हम बात को यो भी बट सकते हैं कि वे अपना पाठक चुनने की स्थिति में हैं, बल्कि उन्होंने अपना पाठक-गमाज चुन रखा है और उग समाज के साथ वे निर्धनिरेश सलाप की स्थिति में हैं । लेकिन इसे निरा 'आविर्भाव' न समझा जाए, अगर मैं कहूँ कि साहित्य-वर्ग में जब हम लेखक की बात करने हैं तो हम वर्ग के लेखक की बात नहीं सोचने । उनकी और उनकी कृतियों की, या समाज के लिए उनकी उपयोगिता और आवश्यकता की ओरता किन दिना



## लेखक की स्थिति

कवि को स्वयम्भू माननेवाले दूसरे लोग तो क्या, कवि भी अब नहीं रहे; लेकिन 'कविमंजीरी' की पुरानी धारणा से आकान्त लोग अभी तक साहित्यकारों को अपनी रचनाएँ सुनाने के लिए नहीं, भाषण देने के लिए बुलाते रहते हैं। यो तो भाषण देने का सार्ध निम्नानवे प्रतिशत काम राजनीतिको ने ले लिया है जिसमें साहित्यकार की मुसीबत बहुत-कुछ टल गई है—जनता की मुसीबत की बात भलग है ! फिर भी भाषे प्रतिशत में ही नहीं, साहित्यकार के सामने ऐसे भवसर आते ही रहते हैं जब उसे हम संकट का सामना करना पड़ता है। मार-मारकर हकीम नहीं, मनीषी बनाया जाकर वह इस प्रत्याशा के सामने खड़ा कर दिया जाता है कि सभा में वह मनीषा के कुछ मोती जरूर बरसाएगा।

अगर यह निरा भोलापन है तो इतना भोला मैं हूँ, और अगर यह निरा सस्कारगत पूर्वग्रह है तो इतना पूर्वग्रही भी हूँ कि मानता रहूँ, कभी-कभी लेखक के मुँह से ऐसी बात सुनने को मिल सकती है जिसको ज्ञान का मोती कहना असंगत न हो—जिससे श्रोता की मानम-मुहा में एकाएक जैसे आसोफ छा जाए जैसा कालिदास के अनुसार कभी अतैलपूर दीपों से हिमालय की कन्द-रामो को मुरम्भ बना जाया करता था। लेकिन इस भोले विद्वत्ता के वाक्जव यह भी मैं मानता हूँ—और प्रत्येक साक्षात्कार पर अधिक अनुभव करता हूँ—कि श्रोता-श्रवता के परम्पर सम्बन्ध में यह सम्भावना प्रतिदिन कम से कमतर होती जा रही है कि साहित्यकार ने ऐसा कुछ मिलेगा। श्रोता-श्रवता ही क्यों, लेखक-पाठक की स्थिति में भी दृग्दी सम्भावना दृग् देन में दिन-ब-दिन कम होती जा रही है। मैंने कहा कि दृग् देन में : पूछना पड़ना है कि दृग् देन में

हिन्दी ही भाषा, यह देख लेंगे।" ऐसा सोचने-मानने बिजने है ? (1)।  
 दूसरी बात यह कि उच्चतर नहीं है, मान रिज का मकरा है कि सभी  
 दा कि उच्चतर गिन गिन जा सकते हैं, जैसे कि सुन्नी के बाने बाज नहीं  
 जाने, छोटे ही गिनकर छोड़ दिया जाने है । मकरानो के मकरा तो है ही, और  
 कदम 'मकरा मकरा मकरा प्रकाश', तो प्रकाश मकरा न होगी ? लेकिन हिन्दी या  
 दूसरी भाषा-लिपि को छोड़कर भी कहीं ऐसा मानने-मानने की कमी है ? यह  
 तो कबो का भी पड़ी बात है । और भारतीय भाषा-लिपि में हिन्दी का क्षेत्र  
 सबसे अधिक इस रोग से ग्रस्त है । हिन्दी का लेखक भी इस रोग से ग्रस्त है ।  
 जो भाषा एक मकरा मकरा-भाषा होने का दम भरती है (वी) उच्चतर लेखक भी  
 छोटे छोटे या भाषा है कि हिन्दी की कोई चीज छोटे-छोटे (या किसी विदेशी)  
 अनुवाद में या जाणगी तो मान लेना होगा ( बकि सभी प्रमाणित होगा -- )  
 कि वह पढ़ने लायक है ।

यह तो वायद नहीं बहा जा सकता कि मकरा में कोई ऐसा दूसरा देश न  
 होगा जिसमें देशी भाषा के लेखक की स्थिति इतनी विग्रम हो , मकरा और  
 मकरा-लिपि मकरा में वायद आज ऐसा दूसरा देश नहीं है जिसका गतिरूपकार  
 इतनी विग्रम परिस्थिति में लिखना हो, जिसका स्रष्टा अपने ही भाषा-मकरा में  
 इतना हीन, अपदस्थ हो जितना भारत में ।

उसी भारत में जहाँ हम आज भी पढ़ते हैं कि भरतों के मुख से स्वयं भाक्  
 भास्वामन देनी थी कि

महमेव स्वयमिद वदामि जुष्ट देवेभिस्त मानुषेभि ।  
 य कामये तन्ममुष कृणोमि त ब्रह्मण तप्यि न मुमेषाम् ॥  
 मह रद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मदिवे चरवे हन्तवा उ ।  
 मह जनाय ससद कृणोम्यह चावापृथिवी मा विदेस ॥

(ऋग्वेद १०.१२५.५-६)

नीमचढ़ा करेला हमने कभी साथ नहीं । लेकिन उसके वैशिष्ट्य का अनुमान उतर  
 कर सकते हैं । और भारतीय लेखक की—भारतीय भाषा-लेखक की—जिस  
 साधारण अवस्था की चर्चा हमने की है, उसके दायरे में हिन्दी लेखक की स्थिति  
 की कल्पना करें तो लगता है कि वही वैशिष्ट्य उसे भी प्राप्त है, क्योंकि भारतीय  
 भाषाओं में लिखने की भारतीय लेखक की सामान्य समस्या के साथ-साथ हिंदी

ही हम कह सकते हैं कि साहित्य के इतिहासों में ऐसे लेखकों का नाम रखा आवश्यक नहीं समझा जाएगा और न पाया गया तो किसी को फिल्म का शिकायत न होगी। (वर्ल्ड खुद उन लेखकों को भी न होगी : उनमें से कुछ तो ऐसा भी समझ सकते हैं कि साहित्येतिहास में उनका नाम था जाने में उत्तरी किसी को धक्का पहुँचेगा। जैसे फिल्मों पर राष्ट्रीय पुरस्कार देने के प्रश्न पर विचार करते समय एक बम्बईया फिल्म-निर्माता ने हमसे एक विशेष छिन्न के बारे में कहा था, 'देगिए, यह फिल्म यों भी बहुत ज्यादा पैसा नहीं बना रही है, वहीं आपने इसे राष्ट्रीय पुरस्कार दे दिया तो यह झिलझिल मारी जायगी।' पुरस्कारप्राप्त फिल्मों विदेशों में प्रदर्शन के लिए भले भेज दी जायें, हम देगें कि कोई उन्हें देगने नहीं जाना जाहेगा।') लेकिन साहित्य के सम्बन्ध में किसे लेगा कहना समझ होगा, वे धरना समझ चुने की स्थिति में नहीं है। अधिकतर वे यह जानते भी नहीं हैं कि उनका पाठक कौन है या होगा। जो जितना ही गहरा और गम्भीर लेखक है वह अपने पाठक के बारे में जितना ही धन्य है। क्योंकि वह मानता है और टीका ही मानता है, कि जैसा गम्भीर पाठक वह चाहेगा वह चाहेगा विदेशी साहित्य ही पढ़ना रहा होगा और पढ़ना होगा, और उस तक हम बात की गुणवत्ता भी सुविचार में या करी दूर में पहुँचेगी कि भारतीय अर्थों में उसके लक्ष्ये भारतीय कला विचारों में।

लेखक की स्थिति

है । लेकिन एक तो समकालीनता भी अपना ऐतिहासिक सन्दर्भ रखती है, निरी समकालीन स्थिति से थोड़ा घाये बढ़कर इतिहास के परिप्रेक्ष्य में, आज के लेखक को देखना भी उपयोगी होगा । इतिहास के परिप्रेक्ष्य में, अर्थात् परम्परा के परिप्रेक्ष्य में । कवि को मनीषी माननेवाने इस देश में काव्य-मनीषा एक विशिष्ट प्रकार की मनीषा रही है । साहित्य-प्रतिभा की यह विशेष परिकल्पना हमें—चायद हर पूर्वी देश को—पश्चिम से बुनियादी तौर पर अलग कर देती है और रखती आई है । अगर हम यह मान भी लें कि पश्चिम के मध्यकाल तक पश्चिमी जगत् की, जिसे हम यहाँ इस विशेष सन्दर्भ में ईसाई जगत् का पर्याय मान ले सकते हैं—कि मध्यकाल तक पश्चिम की यानी ईसाइयत की स्थिति हमसे बहुत भिन्न नहीं थी, तो भी यह मानना होगा कि पश्चिम में अपने को रेनेसांस (पुनरुज्जीवन) द्वारा मध्ययुग से तोड़ लिया । जबकि हमने अपने बीच उन्नीसवीं सदी के रेनेसांस के आभास के बावजूद अपने को अपनी मध्ययुगीन परम्परा से नहीं तोड़ा । आज पश्चिम का लेखक उस वर्ग में गिना जाता है जिसे बौद्धिक (इंटेलेक्चुअल, इन्तेल्लिगेन्सिया या इंटेलिजेंशिया) कहा जाता है, भारत में यह वर्ग लगभग है ही नहीं, यहाँ तक कि हमारे वैज्ञानिकों में भी कुछ ही हैं जिन्हें मध्ये अर्थ में इंटेलेक्चुअल या इन्तेल्लिगेन्सिया वर्ग का सदस्य कहा जा सके—यानी तेने लोग जो बुद्धिमत्त प्रमाण के साथ उसकी चरम परिणति तक चलने को तैयार हों । हमारे देश का तथाकथित बौद्धिक आज भी इंटेलेन्सेन्सिया वर्ग का नहीं मिलेराती—साहित्य-सम्बन्धी वर्ग का प्राणी है यानी वह अपना अन्तिम प्रमाण एवान्त शुद्ध और असम्बरहित बुद्धि में न योजकर शास्त्र में, परम्परा में, धानुवर्गिक धनुषव अथवा मस्बाग्वनी प्रतिभा में योजता है । उस जिज्ञासु-भाव को अनुमोदन देना जान पड़ता है जो बौद्धिकता की नींव है, पर वास्तव में घापीबाद उस नचिक्ता को देना है जिसे 'तं कुमारं—अट्टाविवेश' । 'बादूनो भूयान्निक्केत प्रष्टा' में हम में अट्टाविष्ट जिज्ञासा ही आशिय पाती है ।

निम्नोद्देश उस परिस्थिति के कारण है । लेकिन परिस्थिति कारणयुक्त है, हमसे यह नहीं गिद हो जाता कि वह अचिन्त्ययुक्त भी है । मैक्स योहन का एक छुटकुला कबी मुना या मिचिन्सिन कर्क ने बिट्टिटो पर गने जिनने ममय एक पत्र पर 'इंटेन्सिअल अफमर' की बजाय 'इंटेन्सिट अफमर' लिख दिया था , इस मन्ती पर उसकी ऐसी कमान-अफमर के समाने हुई जिसने हाँ:बर पृष्ठा, "तुमने 'इंटेन्सिट अफमर' कैसे लिख दिया ? क्या तुम नहीं जानते कि मेरा में मेरा कोई अफमर नहीं होता ?" छुटकुला छुटकुला है, लेकिन यह

में लिखनेवाले की एक भूलग और कही विकटतर समस्या भी है। वह हिन्दी में लिखता है, यही उसकी विकटतर समस्या है। हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा हो, या हो सकती है, इस सम्भावना को लेकर जो विवाद और वैमनस्य सगा-तार बढ़ता गया है, उसका दण्ड हर हिन्दी-लेखक को मिलता है। किसी भाषा के लेखक को केवल अपनी भाषा के कारण विरोध हो नहीं, घृणा और घमसान के बीसे उग्र वातावरण में नहीं जीना और काम करना पड़ता जैसे में हिन्दी के लेखक को। और यह आज की स्थिति है : आजादी की वयस्कता के दिन की; आजादी से पहले के भारत में भी हिन्दी की यह स्थिति नहीं थी। और हमारे जीवनकाल में तो किसी भाषा की स्थिति ऐसी नहीं हुई ; यहाँ तक कि आजादी से पहले अंग्रेजी राज में, जब हम अंग्रेजी की प्रति भक्ति से छुटकारा पाकर भारतीय भाषाओं का (कम-से-कम जगानी) सम्मान करने लगे, तब भी अंग्रेजी तक की ऐसे विरोध और ऐसी घबहेसना का सामना नहीं करना पड़ा। ऐसा तो कभी-कभी सुनने में आ जाता था कि 'धमुक घन्टा लिखता है, लेकिन है तो आखिर अंग्रेज', जैसे रुडयार्ड किप्लिंग के ही देश में कई प्रसन्न थे जो उनकी रचनाओं का साहित्यिक मूल्य स्वीकार करते थे लेकिन उसकी अंग्रेज दुष्टि से सम्मन नाराज थे—यानी उनके अंग्रेज होने पर नाराज थे। लेकिन अंग्रेज का विरोध अंग्रेजी का विरोध नहीं था। अंग्रेजी साहित्य की अंग्रेजी में लिखा गया होने के कारण कभी हेय नहीं माना गया ; न कभी ऐसा हुआ कि उनकी पढ़ना शुरू करते समय हम इन गरी प्रश्न की बजाय कि 'हम पढ़कर देखेंगे कि यह अच्छा है या बुरा ?' अपने सामने बड़ी प्रश्न रगड़कर बने कि 'यह अंग्रेजी में लिखा गया इसलिए अच्छा है' जैसी बातें नहीं।

है। हम जानें कि वह निश्चित रूप से है और हमें भी यह सुनाकर बचपन में ही इतिहास-बोध में लगी बाधा है। लेकिन एक जीवन मगडन की विवेचना है कि एक निश्चित बनी दा भीमा की पूर्ण दृश्य केन्द्रित विनिष्टता या प्रतिभा में वह मेरु है। मगडन नाम के प्राग्विक मगडन के बारे में भी यह बात सच है। भारतवर्ष में अगर इतिहास-बोध की बनी है तो उस बनी की पूर्ण वह एक अत्यन्त गहन और गमय स्थिति-बोध में वह लेता है। उमकी प्रतिभा प्रत्युत्पन्न मगि की प्रतिभा है और ऐसा प्रत्युत्पन्न बनी दूरे समानों या मगडनियों में दुर्लभ ही होगा।

जीव की स्थिति की एक पुरानी कहानी पड़ी थी। बचपन में उसके सचित्र रूप भी देखने की मित्रों से। वह वृक्ष की छाया में लटका हुआ एक मनुष्य एक छोटे कुर्से के भीतर भूमि रहा है, पेड़ के तने के पास बांध बैठा है कि मनुष्य उठने लगे उठेगा न, जिस छाया में मनुष्य लटका रहा है उसे दो घंटे लंबी से काट रहे हैं और न जाने वह वह डाल कट जाएगी। अर्धे कुर्से में नीचे नाग और बाह्र मुंह बाएँ प्रतीक्षा कर रहे हैं कि जब मनुष्य गिरे और जब वे उसे नीचे लें। ऐसे में कैसे गोचा जाए कि वह मनुष्य अपनी स्थिति को नहीं पहचान रहा है—स्थिति-बोध तो उसे है ही। लेकिन एकाएक वह देखता है कि उसके मुंह के ठीक सामने कुर्से की जगह के भीतर से उठी हुई धास की एक लम्बी पत्ती के छोर पर एक बूँद मधु जमा हुआ है जो धब गिरा, धब गिरा। और मनुष्य एकाएक मुँह खोलकर जीभ बढ़ाकर मधु की वह बूँद चाट लेता है। उस मधु का स्वाद। स्थिति-बोध का सच्चा आस्वाद वही है, उसी स्थिति में जाना जा सकता है कि वह मधु कितना मीठा है।

पश्चिम के अस्तित्ववादी यह कहानी नहीं जानते। अस्तित्व के सबसे सकट-पूर्ण क्षण में ही अस्तित्व का सच्चा आस्वाद मिलता है, इन बात तक पहुँचने के लिए उन्हें दो महायुद्धों की, दूसरे महायुद्ध में पराजय और बिना लड़े हथियार डाल देने के अपमान की आत्म-ग्लानि की जरूरत पड़ी। अपने को हीन, धरक्षित, असहाय और पतित पहचानकर ही उन्होंने इस स्वाद का मूल्य जाना। क्योंकि वे इतिहास-जीवी थे, इतिहास-बोध से बंधे हुए थे। लेकिन भारत की पौराणिक गायत्री सद्यो से इस बात को पहचानती है। कमलपत्र पर घोंघ की बूँद की नदरता का मोदय, कोपगत द्विरेफ की प्रभात-चिन्ता का सौन्दर्य, अस्तित्व के कुर्से में लटकने हुए जीवन के मधुविन्दु का स्वाद-माधुर्य—हमारे लिए ये सुपरिचित ही नहीं, चिरपरिचित बाने हैं क्योंकि हमारी प्रतिभा सीधी वहाँ तक पहुँचती है। हमारा अस्तित्व-बोध मुरजत हमें अपनी अवस्थिति से अवगत

या तो मोटे तौर पर हमारे मारे देश के बारे में सब होगी कि यहाँ पर इंटेलिजेंट लोग तो बहुत हैं लेकिन इंटेलिजेंस दुर्लभ है ; बुद्धिमान् प्रचण्ड हैं, लेकिन बौद्धिक बुद्धिसत्ता मितेगा। गायक साहित्य-जगत् में कोई ऐसा मिलेगा जो इंटेलिजेंस बढ़ाने का पात्र हो तो उसे मजूरा ही माना जाएगा और मानना होगा।

भाषाओं की और भाषा की समस्या जिस तरह बाह्य स्थिति की समस्या है, उसी तरह बौद्धिकता की यह समस्या लेखक की साम्यन्तर स्थिति की समस्या है। इतिहास और परम्परा के बावजूद लेखक को, 'कविमंजीरी' को—बौद्धिक होना ही है ; बौद्धिक होकर उसकी निर्मम बुद्धि से इतिहास और परम्परा का मूल्यांकन करना है। परम्परा न सब-की-सब और ज्यों-की-स्यों मूल्यवान् है, न ही सब-की-सब और ज्यों-की-स्यों बिल्कुल कूड़ा है। लेकिन क्या मूल्यवान् है और क्या कूड़ा, क्या ग्रहण करना है और क्या छोड़ना, किसको किसके साथ मिलाना और किसकी किस पर पंखड़ी करनी है, इसका निर्णय बुद्धि के सहारे ही हो सकेगा।

लेखक की स्थिति के एक और पहलू का उल्लेख करना आवश्यक है। शायद उसे केवल स्थिति न कहकर 'स्थिति के भीतर अवस्थिति' कहना चाहिए। एक स्थिति इतिहास में होती है, वह निर्धारित करती है कि किसी विशेष अवस्था में हमारे क्या करने की सम्भावना है, निर्देश देती है कि हमें क्या करना चाहिए। लेकिन एक हमारी जीवन में या कर्म में स्थिति है जो निर्धारित करती है कि हम क्या करेंगे, निर्देश देती है कि क्या करो। बल्कि ऐसा कहने में भी कारणत्व या प्रेरकत्व पर कुछ अधिक आधार हो जाता है : यह जीवन-स्थिति ऐसी होती है कि उसमें किसी बोध के कारण हमारे द्वारा प्रमुख विशेष प्रकार का कर्म ही हो सकता या हो जाता है। यों यह स्थिति नहीं, महज स्थितिबोध है। भारतीय प्रतिभा का विदेशी आलोचक प्रायः कहता है कि भारतीय को इतिहास का बोध नहीं होना—उसमें 'सेस ऑफ हिस्टरी' की कमी है। जिन अर्थ में विदेशी यह बात कहता है उस अर्थ में यह शायद सच भी है। इसका एक कारण तो यह भी है कि पश्चिम का और हमारा बाल-बोध अलग-अलग प्रकार का ; हमारी कान्ठ की परिक्ल्पना अलग-अलग है। इतिहास-बोध के विपरीत अनुकूलिता प्रविष्टि है यानी समय की सीधी रेखा के रूप में देखना आवश्यक

पहुँचने, इसका भी एकमात्र जवाब यही है कि पाठक को पहुँचानो  
इतिहास में जिसे जा स्थिति में जिये, युक्ति के महारे चने या बोध के  
चने, ये समाज भी समझ दोगी कोटि के हैं : मवानों के जवाब मवानों  
ही है ।



करता है और हमारा प्रत्युत्पन्न कर्म स्पष्ट करता है ।

इस तरह से कही गई बात ऐसी भी लग सकती है कि हंगी की बातों। लेकिन वास्तव में वह हँसी की नहीं है । शायद उदाहरण देकर उसे इन बातों की परिधि से उबार लिया जा सकता है । जवाहरलाल नेहरू इतिहास में बोले थे, उनका बोध ऐतिहासिक बोध था । कोई भी घटना होने पर, उसके मत में वह कहाँ खड़े हैं यह जानने के लिए उसके लिए जरूरी होता था कि उस बात को इतिहास के चौखटे में रखें ; उस चौखटे के भीतर उसके स्थान, उसकी अपनी दूरी आदि का निरूपण करके ही वह निश्चय करते थे कि वह सत्य बातें खड़े हैं । उनसे मिलनेवाले पश्चिमी लोग सभी मानते थे कि नेहरू का मन पश्चिमी मन है—उनकी समझ में आ सकनेवाला मन है ।

दूसरी ओर मोहनदास गांधी को कभी किसी परिस्थिति में इसकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी कि घटना को इतिहास के चौखटे में रगड़कर उसमें अपनी सम्बन्ध जोड़ें या निर्धारित करें । वह घटना से सीधे प्रभावित होते थे, उनके सीधा सम्बन्ध जोड़ने थे, उनका स्थिति-बोध सुगन्त एक प्रत्युत्पन्न मानविकी के कर्म-निर्देश प्रस्तुत कर देता था । वह सीधे पहचानते थे कि वह क्या करते हैं । उनसे मिलनेवाले पश्चिमी लोग सभी कहते थे कि गांधी का मन पूर्णतः भारतीय—उनकी समझ में आ सकनेवाला नहीं है ।

मैं हिन्दी को राजभाषा बनाने का तर्क नहीं दे रहा हूँ। उसे सिद्ध  
मे मेरी कोई दिनचर्या नहीं है। हमारा काम अंग्रेजी से नहीं चल  
इतना हम मान लें तो उससे आगे के तर्क स्वयं मिट्ट हो जाते हैं। कोई भी  
भारतीय भाषा अंग्रेजी का स्थान ले ले, यह मुझे स्वीकार्य है। बौद्ध-भौ  
भारतीय भाषा के लिए इसकी सम्भावना सबसे अधिक है? किमकी यह  
स्थान देने में देश को, प्रदेशों को, इतर भाषाएँ बोलनेवालों को सबसे कम  
परिधम करना पड़ेगा? इन प्रश्नों के उत्तर जो सकेन करते हैं मैं उसमें  
सन्तुष्ट हूँ।

लेकिन कुछ राष्ट्रीय संस्थाओं को सभी भारतीय भाषाओं को प्रोत्साहन  
देते हुए और भी कुछ सोचना चाहिए। साहित्य अकादेमी ऐसी राष्ट्रीय संस्थाओं  
का एक उदाहरण है। यह संस्था प्रतिवर्ष सभी भारतीय भाषाओं के श्रेष्ठ  
साहित्य को पुरस्कृत करती है। पुरस्कार देने की पद्धति में और भी त्रुटियाँ हैं  
जिनकी धाराओं होनी रहनी चाहिए, लेकिन यहाँ मैं एक बुनियादी मसाल  
उठाना चाहता हूँ जिसका सम्बन्ध राष्ट्रीय चेतना से है। अकादेमी सब  
भाषाओं को 'समान दृष्टि से' देखना चाहती है। लेकिन जो या अपनी सभी  
समान को समान दृष्टि से देखती है वह विकासशील हिन्दो और बदन  
युवक को एक-ही मात्रा में भोजन देने में बाध नहीं करती। समान दृष्टि से  
देखना ही असमान व्यवहार को अनिवार्य बना देता है। उम्मे भी बड़ा  
महत्व की बात यह है कि समान दृष्टि का कहीं सचनी है अगर धार हिन्दी दो  
को एक साथ देखने की ही संसार न हो? मेरा धार यह रहा है। और यह  
भी है कि भाषाओं के पुरस्कारों के अनिश्चित और ऊपर, कम-से-कम एक  
पुरस्कार ऐसा होना चाहिए जो कि सबसे अधिक में 'राष्ट्रीय पुरस्कार' हो  
—भाषाओं के विचार में ऊपर हो और कुछ साहित्यिक अर्थों के आधार  
पर दिया जाए। हमें और भाषावार पुरस्कारों में कोई विशेष नहीं है, बल्कि  
में परस्पर पोषक है।



उमरी बमोटी पर स्वयं भी गये उतर मचने हैं; तब क्या एक साहित्य की ओर ऐसा है जिसमें हम जेगकर बनना आवश्यक मानने रहेगे ?

.

---

बाबरी पत्रिका के लिए फरवरी १९६५ में लिखित । आनपोठ के साहित्य-पुरस्कार की स्थापना से एक पुरस्कार तो ऐसा हुआ है जोकि भाषा-प्रदेशों ■ ऊपर उठकर सार्वदेशिक सत्य सामने रखता है । व्यवहारतः वह कहाँ तक 'राष्ट्रीय' पुरस्कार बन पाया है, साहित्येतर विषयों से अप्रभावित रह सका है, 'भाषाओं के विचार से ऊपर' उठ सका है और 'शुद्ध साहित्यिक प्रतिमानों के आधार पर' निर्णित होने का अव्यक्त सत्य अपने सामने रख सका है, और जन-साधारण में ऐसी प्रतिष्ठा पा सका है, पाँच निर्णयों के बाद भी ऐसा नहीं है कि ये प्रश्न शमित हो गए हों । भाषा और साहित्य में प्रादेशिक प्राग्रह कम नहीं हुए हैं बल्कि सरकारी संस्थाओं ■ पंजकर विश्वविद्यालयों में भी अब पकड़ गए हैं—या यों भी कहा जा सकता है कि विश्वविद्यालयों को ही सरकारी संस्थाएं बनाने और मानने की प्रवृत्ति बढ़ी गई है ।

२  
 ... के प्रति हमारे गुणगान में भासा है। 'यदु' ...  
 ... का मा अर्थात् का मा हिन्दी का मा बंगाल का मा ...  
 ... है—यही एक न रहकर हम वही न पर भी मोचने को बाध  
 ... कि इन सीमित दुर्गियों में ये-उ सबों का आधार भारतीय  
 ... के परिप्रेक्ष्य में क्या स्थान है? अगर हम अपने साहित्य को भारतीय  
 ... में देखने लगे भी नहीं बड़ा लक्ष्य तो किम चापार पर यह धारा कर  
 ... है कि हमारे साहित्यीकों विश्व-साहित्य में कोई स्थान मिलेगा?

मेरी समझ में तो इन सद्बुद्धि हल में गोचने का—घोर यह सद्बुद्धि  
 हम हर स्तर पर पाते हैं, प्रादेशिक साहित्यकारों में, भाषाओं की मर्यादों  
 में, प्रादेशिक अकादमियों में, राज्यों की सरकारों में घोर बेगड़ की साहित्य प्रौ  
 शिक्षा की संस्थाओं में—ही परिणाम यह है कि एक घोर हम प्रादेशिकता  
 कुम्भकूट बन रहे हैं घोर दूसरी घोर विदेशी प्रभावों को अन्धधुन्ध पर  
 करते जाते हैं घोर कृत्तिकार की बजाय अनुकूलित होने जाते हैं।

विश्व-साहित्य की पश्चिम में वही भारतीय साहित्यकार बैठ सवेगा जो पहले  
 राष्ट्रीय साहित्यकार हो—जिसकी कृति में समूची भारत जाति घोर समन्वित  
 भारतीय सद्बुद्धि झोलनी हो। बाकी सब साहित्यकार अपनी पश्चिमों में पड़े रह  
 जायेंगे (भले ही उन पक्ष में शीर्ष स्थान उन्हे मिलता रहे) या फिर नकल-  
 चियों की या छायावादियों की पश्चिम में आ जायेंगे (वह व्यावसायिक दृष्टि से  
 जितनी भी लाभकर हो)।

मैं यह स्वप्न देखता हूँ कि सभी भारतीय भाषाओं के कृतिकार इस  
 व्यापकतर दृष्टि को अपना सकेंगे और साहित्य अकादेमी को इतनी प्रेरणा  
 और इतना बल दे सकेंगे कि कम-से-कम एक ऐसे राष्ट्रीय पुरस्कार की प्रतिष्ठा  
 हो सके। उसमें व्यवहार और पद्धति सम्बन्धी कई कठिन समस्याएँ उठेंगी,  
 लेकिन कोई समस्या असाध्य नहीं होगी अगर सही सिद्धान्त से प्रारम्भ किया  
 जाए। हम 'विश्व-शान्ति-पुरस्कार' की कल्पना कर सकते हैं और समझते हैं कि  
 उसके निर्णय के लिए हम सारे ससार के शान्ति-वर्मियों के नामों का मूल्यांकन  
 कर सकेंगे; हम 'अन्तर्राष्ट्रीय फिल्म प्रतियोगिता' कर सकते हैं और विश्वाम  
 करते हैं कि हम न केवल अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि में देख और सोच सकते हैं बल्कि

विदेनी मंशुति मे टकराहट मे यह प्रश्न उठना स्वाभाविक था कि भारती मंशुति क्या है, उममे क्या मूल्यवान और स्पृहणीय है, तिन मूल्यों मे उमका गामय्यं निश्चि है और कौन-सी प्रवृत्तियाँ उमे वह बन और वह गतिशीलता दे सकती हैं तिमकी उमे पदिचमी मंशुति का मुताबला करने के लिए आवश्यकता होगी । उमी प्रकार स्वाधीन भारत की गही रूप-परिवर्त्यना के लिए आवश्यक था कि एक स्वायत्त भारतीय मंशुति का रूप भी हमारे सामने हो ।

लेकिन यहाँ मे धामे न बेबम चित्र धुंधला हो जाता है बल्कि प्रश्न भी धूमिस होने लगते हैं । ऐसा क्यों हुआ कि जहाँ एक ओर यह प्रश्न प्रतिदिन नीले मे लीगा होता गया कि राजनीति के मन्दर्भ मे स्वाधीन भारत की राष्ट्रीयता—स्वाधीन भारतीयता—क्या है, वहाँ दूसरी ओर इस समान्तर महत्त्व के प्रति लोग उदासीन हो गए कि सांस्कृतिक मन्दर्भ मे स्वाधीन भारतीयता क्या है ? यह तो धनियायें ऐतिहासिक क्रिया है कि राजनीतिक, धाधिक प्रथवा तबनीकी दृष्टि से समृद्धतर और प्रबलतर मंशुति का प्रभाव दूसरे ग्रहण करते बलें—प्रच्छा प्रभाव भी और बुरा प्रभाव भी—लेकिन यह क्या कम स्वाभाविक है कि एक बिजासमान नवम्बलन्त्र देश के नाते भारतीय मंशुति के शील की—सांस्कृतिक भारतीयता की—पहचान का प्रबल धायह हममें हो ? क्षेत्र-फल की दृष्टि मे भारत मे छोटे, या सांस्कृतिक विकास की दृष्टि से भारत की अपेक्षा कम प्रीठ देनो मे भी हम यह प्रवृत्ति देन सकते हैं, और ऐसा भी नहीं है कि सर्वत्र इस प्रवृत्ति का स्वर सांस्कृतिक सकीर्णता या प्रतिक्रियावाद का ही स्वर हो । (बल्कि वैंसी दुराग्रहभरी पंचमुगता और युयुत्सु सकीर्णता—गौर्विनिरम—तो भारत मे भी काफी क्रियाशील है ।)

मेरी समझ मे इस बिषय स्थिति का एक कारण यह है कि पिछले बीम बयों मे हमारी एक क्षतिग्रूरक महत्वाकांक्षा ने हमे विश्व-मंशुति की एक मरी-चिका का शिकार हो जाने दिया है । कदाचित् यह विश्व-राजनीति के मच का प्रमुख धमिनेता होने की महत्वाकांक्षा का ही सांस्कृतिक पहलू रहा । यह नहीं है कि एक विश्व-मंशुति, विश्व-मानव धथवा विश्व-जागरिक का धादसं दन देन की परम्परा मे नहीं रहा । लेकिन वह धादसं तभी तब प्राणवान् और प्रेरणा देनेवाला रहा जब तक कि उसका धाधार एक समृद्ध और गमयं सांबंदेशिक मंशुति और एक धात्म-विश्वास-भरी देनव्यापी साम्शुतिक भावना रही । वैदिक काल का सामाजिक जब कृष्यन्तो विश्वधायं की धान सोचना था तब स्वय धपने धायंत्व मे उगकी धास्था थी और उम पर वह गर्व भी करना था । मध्यकाल के वैष्णव भी जब कहने थे कि 'मचके ऊपर मनुष्य



इम चुनौती की मही पहचान और इमका सम्यक् स्वीकार इममे न हम एक आत्म-प्रवंचना के जुहासे मे ही जी रहे हैं और जीते निर्भर होने मे पहले समृद्ध होने चनने की भून का अर्थ है और गरीबी; उमी तरह मच्चे अर्थ मे राष्ट्र होने से पहले 'वर्ल्ड पावर' के मोह का परिणाम है देश-विघटनकारी राजनीति। इसी तरह मंशुति होने मे पहले विद्व-मंशुति की चिन्त का एक ही परिणाम हो है; वह परिणाम जो आज हम देश मे जगह-जगह देख रहे हैं।

विद्व-व्यापी सहयोग और सांशुतिक सम्पर्क की यह एक जीवित समस्या है। विद्व के स्तर पर सांशुतिक सहयोग या तो व्यक्ति करता है—यानी व्यक्ति के विचार ही सम्पर्क का आधार होते हैं, वह सम्पर्क चाहे व्यक्ति और दूसरे व्यक्तियों के बीच हो, चाहे व्यक्ति और समाजो-मंशुतियों के बीच—या फिर सम्पागत सम्पर्क राष्ट्रो और राष्ट्रो के बीच हो सकता है। 'ऐसे सम्पर्क का सरकारी के बीच होना जरूरी नहीं है। लेकिन गैर-सरकारी सस्थाएँ भी यह काम सभी सम्पन्न कर सकती हैं अगर जिस संशुति की ओर से या जिस संशुति के माध सम्पर्क वे करना चाहे उसका एक देशव्यापी रूप उनके सम्मुख हो।



है, उससे ऊपर कुछ नहीं" अथवा "जो भी हो देगा पड़ोसी है, वहाँ भी मेरा देश है" तब उनकी विश्व-मानवता या विश्व-नागरिकता की पुष्ट करने वाली एक देशव्यापी वैष्णव अथवा भक्त समाज की परिकल्पना दी। तेलंग राज का तमिल, तिरुवल्लुवर की दुहाई देता हुआ सारे संसार के लोगों को अपना पड़ोसी और देशों को अपना घर मानने को तैयार है—लेकिन हिन्दू-भाषी को और भारतवर्ष को छोड़कर। और ऐसी ही संकीर्ण दृष्टि का है सांप्रदायिक वैष्णव—वैष्णव ही क्यों, साम्प्रदायिक हिन्दू मान को है। दुर्ते के शकराचार्य के एकाधिक वक्तव्य ऐसे ही संकीर्ण चिन्तन के अच्छे तन्त्रात्मक उदाहरण हैं। एक 'जगद्गुरु' से जिस उदार व्यापक मानवीय दृष्टि की प्रशंसा हम करते (और इसमें तथा धर्म-दृष्टि में कोई विरोध नहीं, धर्म-धर्म धर्म की भारतीय परिकल्पना के सन्दर्भ में) वह तो दूर की बात, इतिहास और धर्म-दर्शन की दृष्टि से इतनी पोच दलीलें कोई विद्वान दे सकता है इतनी कल्पना करना भी कठिन होता।

विश्व-संस्कृति की भारती उतारकर मानो सत्कारी भारतीय होने के दावित्व से हम छुट्टी पा जाते हैं; न केवल अपने कुएँ के घेंदक बने रहने के लिए आचार्य पा लेते हैं बल्कि और सब ताल, पोखर, नदियों से मृणा का समर्पण हमें मिल जाता है। ठीक वैसे ही, जैसे अपनी राजनीति में विश्व-नागरिकता की भारती गाकर हम भारतीय नागरिकता की जिम्मेदारी से मुंह पुल्लेते हैं और तन्मग्न होकर जात-पात, दल-बदल और ब्रेक-थरीड की प्रादेशिक भाषणिक या निरी गँवई राजनीति में भाकठ दूबे रहते हैं।

"यथार्थ और आदर्श के बीच का पड़ती है तेरी छाया" यदि यह किसी दूसरे सन्दर्भ में कहा था, लेकिन हमारे आज के यथार्थ में यह बीच में था पड़नेवासी छाया ही हमारा आदर्श है, या हो सकता है। यथार्थ है धार्मिक और प्रादेशिक राष्ट्र-नि, यथार्थ है प्रादेशिक, धार्मिक और आदर्शिक राजनीति। आदर्श है विश्व-नागरिक, आदर्श है विश्व-राजनीति और विश्व-नागरिकता। और बीच में विधाना की छाया है भारतीय राष्ट्र-नि और भारतीय नागरिकता जो भगवत् रूपधारी और धर्मात्मा सत्कार है। अब तक इन यथार्थ, इन आदर्श

१. चंडोरास

२. तिरुवल्लुवर

३. टी० एम० दण्डित . विद्वत्कीर्ति (विश्लेषण) पृष्ठ ३३ का शीर्ष

पर यह कहने में कि 'भारतीय उपन्यास' नाम सार्थक हो जाता है, और यह कहने में कि उपन्यास-विधा में एक विशेष रूप-मण्डना है जिसे भारतीय उपन्यास-रूप कहा जा सकता है, काफी अन्तर है। विधा और रूप-मण्डना चाहिए : रूपाकार के साथ कोई देश अथवा जाति-वाचक है या नहीं यह सोचने की बात है। अगर रूपाकार एक सौन्दर्य-तत्त्व राष्ट्रीयता का अनिवार्य अंग होना चाहिए—अतिराष्ट्रीय होना चाहिए—उपन्यास-रूप—में या तो रूपाकार है या नहीं है, जातिवाचक है तो वह कलावस्तु नहीं बन जायेगी, और अगर कला-रूप है तो ऐसे बिल्ले उसे जहरत क्या है ?

शैलियाँ, पद्धतियाँ, शिल्प, तन्त्र-रूपाकार को रूपायित और रूप-बोध का सम्प्रेषण करने के लिए इनके विभेद हो सकते हैं, पर तन्त्र स्वयं रूपाकार नहीं है।

तन्त्र के साथ भी विशेषण की क्या आवश्यकता है, क्या आन्तरिक महत्त्व है ? केवल ऐतिहासिक मूल्यांकन की दृष्टि से उसकी सार्थकता या प्रयोजनीयता हो सकती है, कोई विशेष तन्त्र किसी विशेष देश-काल की उपज हो सकता है, किसी युग या समाज-विशेष की संवेदना का बहाना करने का विशेष सामर्थ्य रख सकता है।

भारतीय उपन्यास की चर्चा इंगी सन्दर्भ में सार्थक हो सकती है।

उपन्यास मूलतः एक कालबद्ध रचना है। काल में घटित का ही रूपयुक्त वृत्तान्त उपन्यास है। इसलिए अगर काल-बोध भिन्न है तो उपन्यास का रूप भी भिन्न होगा। अगर उपन्यास-रूप विशिष्ट है तो काल-बोध भी विशिष्ट होगा।

इस परिप्रेक्ष्य में आख्यान का अगर कोई विशिष्ट रूपाकार है जिसे भारतीय प्रतिभा की अनन्य उपज माना जा सके तो वह भ्रूलताबद्ध कथा या कहानी-के-भीतर-कहानी ही है। हितोपदेश-पञ्चतन्त्र इसके प्राचिन रूप हैं। कथा-सरित्सागर, ईसाई की कहानियाँ, अलिक संता, बंताल-पथोसी और सिंहासन-बत्तीसी, डेकायेंरॉन और तोता-मैना उन्नी शृंगार की बड़ियाँ हैं। सम्बद्ध मूलोद्घातनों के द्वारा ठोस व्यावहारिक ज्ञान-दर्शन की, परम्परा के रक्षण, प्रचार और प्रसार की ऐसी बधाई तो सारे ससार में मिलती है, पर यह मानना गलत है कि एक मृष्ट और परिपक्व, परिमाजित साहित्यिक विधा के रूप में इसका विकास विशिष्टतः भारतीय है। मैं समझता हूँ कि आख्यान या उपन्यास-साहित्य में किसी रूपाकार को हम वास्तव में भारतीय कह सकते हैं तो वह यही है।

## उपन्यास की 'भारतीय' विधा

साहित्य के 'राष्ट्रीय' रूप में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं है। क्यों हो? राष्ट्रीयतापरक साहित्य हो सकता है; विभिन्न समयों पर उसकी उत्पत्ति भी हो सकती है और यह भी हो सकता है कि समूचे देश-समाज की मुख्य संवेदना का प्रतिबिम्बन और वहन करते हुए साहित्य राष्ट्रीयता की भावना में अनुप्राणित हो। जिस देश-समाज में राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हो, जो राष्ट्रत्व के लिए छटपटा रहा हो, उसका साहित्य इस सकुलाहट को व्यक्त करे, इससे अधिक स्वाभाविक क्या होगा? पर क्या बँसा होने से ही हम कह सकेंगे कि वह राष्ट्रीय साहित्य है?

भारतीय साहित्य—हाँ। क्योंकि वह एक भारतीय संवेदना का बाह्य हो सकता है—ऐसी संवेदना, जिसके मूल में वैसे मूल्य हैं जो भारत के सांस्कृतिक इतिहास और अनुभव की उपसंघियाँ हैं; ऐसी संवेदना, जिसको अभिव्यक्ति मिलने पर हर भारतीय अनुभव करेगा कि उसी को अभिव्यक्ति मिली है।

साहित्य-विधायें : क्या उनके साथ भी हम देशवासी विरोधण लगा सकते हैं? इस अर्थ में क्या 'भारतीय उपन्यास' की बात कर सकते हैं?

प्रश्न पूछता है और सोचने के लिए दक जाता है।

भारतीय भाषाओं के बहुत-से उपन्यासों का अध्ययन-विश्लेषण करके हम कुछ सामान्य धारणाएँ उनके गुण-दोष या विसिष्ट प्रवृत्तियों के बारे में बना लें और बहें कि समुक्त-समुक्त बानें भारतीय उपन्यास में पाई जाती हैं—या इमी बाग की उत्तरकर बहें कि किस उपन्यास में समुक्त-समुक्त हो वह भारतीय उपन्यास है—तो बट कहना मगन हो सकता है, जगमें भारतीय उपन्यास के अध्ययन के लिए कुछ प्रकाश भी मिल सकता है।

मैं तो भारतीय लेखक हूँ न ? न्यूनाधिक भारतीय—जैसा कि न्यूनाधिक भारत है । और मैं न्यूनाधिक आधुनिक लेखक भी हूँ इसलिए यह है कि मैं उन नाना प्रभावों के प्रति खुला हूँ जो राष्ट्रीय का प्रतिबिम्बण करते हुए आते हैं ।

इस प्रकार मैं आधुनिक विधाओं में रचना करता हूँ, पर उसी रूप में एक भारतीय वेग कर सकता है ।

तो मैं कह सकता हूँ कि मेरा काल-बोध भी दोहरा है—वर्तक दोहरे से कुछ अधिक, क्योंकि मैं दो प्रकार का काल-बोध स्वीकार करके उनका परस्पर विरोध निराकृत करना चाहता हूँ ।

इस विशेष परिस्थिति का भी प्रतिबिम्ब आज भारत के उपन्यास में हो सकता है । उनके लिए विशिष्ट तन्त्र का आविष्कार या विकास हो सकता है । होगा, तो जिस भीमा तक होगा या जिस मात्रा में होगा उसी में या उसी तक हम एक भारतीय स्थावर की बात कर सकेंगे । पर वैसा करके भी हम उसे किसी दूसरे राष्ट्रीय या जातीय स्थावर की प्रतिस्पर्धा में नहीं रखेंगे—यही कहना होगा कि वह उपन्यास मात्र को एक देन है : उपन्यास मात्र की श्रीवृद्धि उससे होती है ।

---

अखिल भारतीय लेखक सम्मेलन के मद्रास अधिवेशन (१९६२) में विचारार्थ प्रस्तुत किया गया एक प्रपत्र । (मूल प्रपत्र संघेजी में था ।)

प्राधुनिक उपन्यास वास्तव में पश्चिमी उपन्यास है। हर भारतीय भाषा में उपन्यास का प्राविर्भाव पश्चिम के सम्पर्क का परिणाम है और इन बातें कालों तक बढ़ाकर भी कह सकते हैं। प्राधुनिक काल भी पश्चिमी काल है ऐतिहासिक काल के साथ ऐतिहासिक उपन्यास का विकास हुआ; फिर काल-बोध के अद्वैत, कालानुपरक, निर्व्यक्तिक होने के साथ-साथ उपन्यास में भी वही चीज प्रकट हुई : अद्वैत बोध के, क्षण-गत जीवन के, निर्व्यक्तिक 'अनुभूति' के उपन्यास अर्थात् प्राधुनिक (पश्चिमी) काल-बोध के साथ अनिवार्यतः बंधे हैं।

यह दूसरी बात है कि पश्चिम से जो हमने पाया है, उसमें हम दोषों जैसे भी तत्त्व पहचानें जो हमारे अपने थे जो हमने दिये पर, मूल दाता होने के कारण, देने में गैर दिये; देकर सम्पन्नतर नहीं हुए।

शृंखलित कथा की जड़ें दो हैं।

पहली तो यह कि वह व्यवहार और व्यावहारिक ज्ञान की भूमि लोक-जीवन में खोजती और पाती है - उस ठोस, 'सयाने' सफलतापरक (प्रैग्मैटिक) चेतना का नाम-माडी कोटि के व्यावहारिक ज्ञान की, जिसके सहारे हमारा दैनन्दिन जीवन चलता है—उस समय भी जब हम उच्चतर क्षेत्रों के सपने देख रहे होते हैं या गहनतर विषयों की बाह से रहे होते हैं।

दूसरी यह कि उसका काल-बोध पश्चिम से न केवल पृथक् है बल्कि अभी कुछ काल पहले तक पश्चिम के लिए दुर्बोध और अगम्य रहा है। पश्चिमी नाटकीय सन्दर्भ की काल की एकता का भारतीय सन्दर्भ में कोई अर्थ नहीं रहा, क्योंकि भारतीय दृष्टि में सब काल सहवर्ती हो सकते थे।

पश्चिमी शॉर्ट-स्टोरी और भारतीय कथा में ये दो अलग-अलग काल-बोध प्रतिबिम्बित और परिलक्षित होते हैं। शॉर्ट-स्टोरी का लेखक उद्दिष्ट है, जल्दी में है, विस्लेषण करता चलता है; उसका काल-बोध ऐतिहासिक, अतृप्ता-नुसारी, अप्रत्याशित है। 'हो चुके' पर 'हो रहा' बरीयता पाता है, और हर घटना का एक अन्त होता है, परिणति होती है, भारतीय कथाकार या किस्सागो इमी-मान में है, मजे-मजे चलता है, उसकी दृष्टि सघाटक है; उसका काल-बोध ऐतिहासिक और अनुसारी है। उगमे घाना और जाना तो है, पर अन्त या अन्त जाना नहीं है। जो हो चुका है, वह घटित के नाने ही निरन्तर घटमान है, न कोई अन्त है, न अन्त है।



## समकालीन कविता का संकट'

प्रश्न : समकालीन कविता, चाहे वह किसी नाम से संबोधित की जा रही हो, रचनात्मक स्तर पर एक संकट के बीच से गुजर रही है और वह प्राधुनिक अनुभव को अभिव्यक्ति नहीं दे पा रही है. आप इस विषय में क्या कहना चाहेंगे ?

उत्तर : आपकी बात ठीक होती तब भी शायद 'कविता संकट के बीच से गुजर रही है' ऐसा न कहकर यही कहना उचित होता कि कवि संकट के बीच से गुजर रहा है और अभिव्यक्ति की असमर्थता उसी की है। लेकिन थोड़ा आप अपने प्रश्न पर विचार कीजिए। अगर कवि अभिव्यक्ति नहीं दे पा रहा है तो वह अनुभव क्या है, कहाँ है, क्या वास्तव में है भी? कविता की दृष्टि से यह बात में आसानी से नहीं मान लूँगा कि भाषा अथवा शब्द से असंग एक अनुभव है जो कि आत्यंतिक है। (यह इसके बावजूद कि मैं स्वीकार करता हूँ और कहता हूँ कि कुछ अनुभव शब्दातीत होते हैं। जो शब्दातीत हैं उन्हें न कहने या न कह पाने की मैं रचनात्मक संकट नहीं कहता; और जो शब्दातीत नहीं है उनका अनुभव मैं शब्द से बड़ा हुआ नहीं मानूँगा।)

क्या जिस संकट की बात आप कह रहे हैं वह अनुभव की व्यक्त करने की असमर्थता का संकट न होकर अनुभव की बसो या अनुपस्थिति का संकट नहीं है? क्या यह सदेह उचित नहीं है कि वास्तव में अनुभव ही नहीं है, कि एक नकली दर्द है, जिसे नेहरू दुना घोर मचाया जा रहा है?

मुझे अभी सदेह होगा है कि यह नकली दर्द अनुभव का दर्द है, कि नहीं

कविता के लिए कवि न केवल व्यक्तिगत अन्तर्गत नहीं मानता, बल्कि विभिन्न प्रकार के सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन, काल, देश नहीं मानता। अपने अनुभव के करने पर दूसरों के अनुभव के अनुवाद में काम करना चाहता है और यदि कवि की भावनाओं में कोई भी अनुभव नहीं है।

कवि को कवि का मानने से पहले है कि अनुभव यह है कि कविता कविता के रूप में होती है, और कवि कविता के रूप में मानता है। कविता कविता में ही जन्म लेती है, इसलिए हम परिस्थिति कवि-कर्म में दृष्टि कविता के रूप में है। कवि जिस दृष्टि का अनुभव कर रहा वह दृष्टि वह एक समाज में दृष्टि न होकर कविता में ही दृष्टि है—कविता में और कविता की भावना में। मैं समझता हूँ कि यह कविता गरी होगी, और पद्य-भाव में प्रभावित होगा, कि कवि जो कवि अपने भावों या कविता से अपने को बेगाना नहीं मानता करने के अपने समाज से भी अपने को पराया या बड़ा दूरा मानता नहीं करने, उस समाज में मैं ही कविता भी नाराज क्यों न हो।

प्रश्न समझना कविता का यह किनी शब्द में समझ हो, सत्य-वचन, वचन-वचन, परिस्थिति संबंधित नया कविता-वचन कविता की गवाहक बन गई है। कविता की छटा-छटा हमने नहीं है और यह निश्चित कर पाना कठिन हो गया है कि कौन-भी कविता कविता है, कौन-भी नहीं।

उत्तर : मैं नहीं मानता कि कविता की छटा-छटा समझली कविता में नहीं है। मैं यह भी नहीं मानता कि कविता की पहचान समझ हो गई है मैं समझता हूँ कि पारंगी भी है और निश्चय भी है। बल्कि ऐसा नहीं होता तो अपने जो प्रश्न पूछा है वह उठता ही नहीं—सभी ऐसी रचनाएँ कविता हो जानी जिनके कविता होने का दावा किया जाता।

फिर भी परिस्थिति में अवाछनीय कुछ अवश्य है। मैं समझता हूँ कि एक महत्व की बात यह है कि काव्य-संपादन नितांत अनुसरणीय है। यह बात छोटी पत्रिकाओं के बारे में जितनी सच है बड़ी पत्रिकाओं के बारे में भी उतनी ही सच है। बात को हिंदी तक सीमित रखें, तो यह कहना असुविधा नहीं जान पड़ता कि हिंदी में ऐसी कोई भी पत्रिका नहीं है जिसमें कविता का संपादन सरा और प्रामाणिक माना जा सके। मैं सिर्फ मतभेद की बात नहीं कह रहा हूँ; मेरी विचार्यत यह है कि कोई भी संपादक या संपादन-मंडल खुद अपनी बसोटी में पूरा काम नहीं लेता। किसी भी पत्रिका में कविता के छपने से हम यह परिणाम नहीं निकाल सकते कि वह कविता अच्छी होगी—उस पत्रिका के संपादक की दृष्टि में भी अच्छी होगी ! छोटी पत्रिकाओं के पक्ष में उत्साह



की या गच्चेपन की दलील दी जा सकती है लेकिन पुराने प्रतिष्ठित पत्र और स्वयं कवियों द्वारा संचालित पत्र भी इस मामले में कम दोषी नहीं हैं और वे घराजगता और विवेकहीनता की स्थिति को बढ़ावा देते रहे हैं।

नयी प्रवृत्तियों में विस्तार की बात अवश्य सक्षित होती है। एक हद तक वह अनिवार्य प्रक्रिया है। हम छोटी विववादी कविता के एक दौर से गुजरे हैं; विववाद की परिणति अनिवार्यतया अत्यन्त छोटी कविता में होती है—विववाद का तर्क निविड घनत्व और एकात्मिकता का तर्क है। इति तक पहुँचकर वह धेमाणी हो जाता है। उसके बाद फिर अभिषा और विस्तार का दौर स्वाभाविक है। विस्तार विववाद के भलावा भमूर्तवाद की भी प्रतिक्रिया है। इसीलिए मैं ऐसा तो नहीं समझता कि यह विस्तार और तथ्य-कथन नयी काव्य-रचना की स्थायी प्रवृत्ति होगी, लेकिन ऐसा जरूर सोचता हूँ कि यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है जिसके मूल में एक स्थूल सामाजिकता और अर्थवत्ता की खोज है।

प्रश्न : यह सही है कि साहित्य जीवन के यथार्थ को ग्रहण करता है; लेकिन समकालीन कविता के राजनीति पर खड़े होने के कारण उसका मूल स्वर एकांगी होता जा रहा है। क्या यह स्थिति किसी मोहभंग की धोतक है अथवा जीवन-दृष्टि में समग्रता के अभाव की परिचायक ?

उत्तर : एक हद तक इसका उत्तर इस पर निर्भर है कि आप में आग्रह की मात्रा कितनी है। अगर 'साहित्य जीवन के यथार्थ को ग्रहण करता है' तो हमारे समकालीन जीवन का यथार्थ यह है कि वह दो-एक पीढ़ी पहले की अपेक्षा राजनीति से बहुत अधिक आश्रित है। यह भी सही है कि हमसे पहले का लेखक राजनीतिक जीवन की भाँगी से कतराता आया है और अब बैसा नहीं कर सकता। कवि राजनीति को भी अपनी अनुभूति के घेरे में ले घाये तो यह उसकी जीवन-दृष्टि के विस्तार का ही लक्षण होगा, लेकिन राजनीति की बात में उलझकर और सब-कुछ भूल जाये तो यह एक नया संकुचन होगा। इसी-लिए मैंने आग्रह की बात कही। ऐसा शायद नहीं है कि कविता का मूल स्वर एकांगी हो गया है; बात इसनी ही है कि किनहाल कवि भी राजनीति के दबाव का सीला अनुभव कर रहा है। क्यों न करे ?

प्रश्न : आज की अधिकांश कविता के पीछे उन्लेखनीय वैचारिकता या काव्य-भाषा नहीं, बल्कि अवसरवादिता और प्रकार-दृष्टि है। आप इन कथन से कितना सीमा तक सहमत या असहमत हैं ?

उत्तर : 'अधिकार' की बात कहकर आपने छूट रगो है कि रहे। मैं अवसरों का ही मसारा तैयार चाहता हूँ, नहीं तो आप

मानता। यह नहीं कि अवसरवादिता और प्रचार-दृष्टि की कमी है (कमी घाज के जीवन के किस क्षेत्र में है?), लेकिन जिस रचना में कविता बड़ी है, जो कविता है, उसके पीछे राजनीतिक धारणा ज़रूर हो गयाना है लेकिन उसे प्रचार नहीं कहा जायेगा और वादिना तो विलुप्त नहीं। और ऐसी कविता के बारे में यह बात भी सही होगी कि उसमें 'वैचारिकता या काव्य-भाषा की कमी' है। उदाहरण एक से अधिक भी है, लेकिन एक ही उदाहरण लीजिए, रघुवीरसहाय के नये कविता-संग्रह आत्महत्या कि विकट में न ही विचार या भाषा दुर्बल है, न अवसर-वादिता या प्रचार-दृष्टि है। मैं समझता हूँ कि ऐसी रचना हमारी काव्य-भाषा को समृद्धतर और हम योग्य बनाएगी कि वह वैचारिकता का भार वहन कर सके।

**प्रश्न** - समकालीन कविता की अस्तव्यस्तता, निपेधारमक प्रतिक्रिया या उसमें रचनात्मक अनुभव के अभाव का नये परिवेश की चुनौती से क्या संबंध है? उत्तर - पहले प्रश्न के उत्तर में मैंने जो कुछ कहा है, फिलहाल वही काफी होना चाहिए।

**प्रश्न** - समकालीन कविता के रचनात्मक सबट ने आत्ममग्न की स्थिति तो पैदा की है, लेकिन उसकी मनोभूमि के पास अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित हो जाने के लिए अपेक्षित मघटन नहीं है। हिंदी के एक प्रतिनिधि कवि के माने घाप क्या कहना चाहेंगे?

**उत्तर** : प्रतिनिधि की बात छोड़िये। घापका प्रश्न मैं ठीक-ठीक समझ नहीं पा रहा हूँ। जितना समझ पा रहा हूँ उसके उत्तर में यही कहना चाहता हूँ कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठा का लोभ ही गलत है, बल्कि बड़ी घपने घापने समकालीन कविता के बहुत से रंगों की जड़ है। घाप अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की बात कहते हैं, हमारी कविता में राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के साथक ही जितना है? (बल्कि बहुत-सा ऐसा भी है जिसकी विदेश में खर्चा हो गयानी है या हो भी रही है, लेकिन जिसे देश में ग्राह्यिष बचग हो मानना होगा।) घाढारी के बाद दिग्ग के तितित्र एवाएँ गुन जाने से हमसे से बहुत से मेरग हम भ्रम के विचार हो गये हैं कि हमें 'अंतर्राष्ट्रीय स्तर की प्रतिष्ठा' के लिए ही कुछ करना है और घपने देश या घपने ग्राह्यिष में प्रमाणित होना कोई महत्त्व नहीं रखता। मैं कहना चाहता हूँ कि किसी भी ग्राह्यिष रचना या किसी हतिवार के लिए घपने देश में प्रमाणित होना आवश्यक है; जिता हमसे अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा हो ही नहीं गयानी। भारत का बहो सेनक अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा पा

की या कल्पेयन की दलीन दी जा सकती है लेकिन पुराने प्रतिष्ठित पत्र पौर  
स्वयं कवियों द्वारा सप्ताहिन पत्र भी इस मामले में कम दौरी नहीं है और वे  
धराजन्मा और विवेकहीनता की स्थिति को बढ़ावा देने रहे हैं।

नयी प्रवृत्तियों में विस्तार की बात अवश्य सशित होती है। एक हद तक  
यह अनिवार्य प्रक्रिया है। हम छोटी विषयादी कविता के एक दौर से गुजरे हैं;  
विषयादी की परिणति अनिवार्यतया अस्पष्ट छोटी कविता में होती है—विषयादी  
का सर्व निविष्ट घनत्व और एकात्मता का सर्व है। इति तक पहुँचकर वह  
बेमानी हो जाता है। उसके बाद फिर अभिप्राय और विस्तार का दौर स्वाभा-  
विक है। विस्तार विषयादी के अलावा समूतवाद की भी प्रतिप्रिया है। इसलिए  
में ऐसा तो नहीं समझना कि यह विस्तार और तथ्य-कथन नयी काव्य-रचना  
की स्थायी प्रवृत्ति होगी, लेकिन ऐसा जरूर सोचना है कि यह एक स्वाभाविक  
प्रवृत्ति है जिसके मूल में एक स्थूल सामाजिकता और अर्थव्यवस्था की खोज है।

प्रश्न : यह सही है कि साहित्य जीवन के मथार्थ को ग्रहण करता है, लेकिन  
समकालीन कविता के राजनीति पर लड़े होने के कारण उसका मूल स्वर  
एकांगी होता जा रहा है। क्या यह स्थिति किसी मोहभंग की द्योतक है अथवा  
जीवन-दृष्टि में समग्रता के अभाव की परिचायक ?

उत्तर : एक हद तक इसका उत्तर इस पर निर्भर है कि आप में आप्रह की  
मात्रा कितनी है। अगर 'साहित्य जीवन के मथार्थ को ग्रहण करता है' तो हमारे  
समकालीन जीवन का मथार्थ यह है कि वह दो-एक पीढ़ी पहले की अपेक्षा  
राजनीति से बहुत अधिक आक्रांत है। यह भी सही है कि हमसे पहले का  
लेखक राजनीतिक जीवन की माँगों से कतराता आया है और अब वैसे नहीं  
कर सकता। कवि राजनीति को भी अपनी अनुभूति के घेरे में ले आये तो यह  
उसकी जीवन-दृष्टि के विस्तार का ही लक्षण होगा, लेकिन राजनीति की बात  
में उलझकर और सब-कुछ भूल जाये तो यह एक नया संकुचन होगा। इसी-  
लिए मैंने आप्रह की बात कही। ऐसा शायद नहीं है कि कविता का मूल स्वर  
एकांगी हो गया है; बात इतनी ही है कि फिलहाल कवि भी राजनीति के  
दबाव का तीखा अनुभव कर रहा है। क्यों न करे ?

प्रश्न : आज की अधिकांश कविता के पीछे उत्प्रेक्षणीय वैचारिकता या  
काव्य-भाषा नहीं, बल्कि अवसरवादिता और प्रचार-दृष्टि है। आप इस कथन  
से किस सीमा तक सहमत या असहमत हैं ?

उत्तर : 'अधिकांश' की बात कहकर आपने छूट रगो है कि अरवाद भी  
रहे। मैं अपवादों का ही सहारा लेना चाहता हूँ, नहीं तो आपकी बात में नहीं

समस्या । यह सही कि रचनाकारों का घोर प्रचार-दुष्टि की कमी है (इसकी कमी घात के अभाव में किम छेद में है ?), लेकिन जिस रचना में यह है वह कविता नहीं है, जो कविता है उसके पीछे सांख्यिक धारणा या विचारानुसार हो सकता है लेकिन उसे प्रचार नहीं कहा जाएगा और प्रचार-दुष्टि को विद्वत्त्व नहीं । और ऐसी कविता के बारे में यह बात भी गड़ी नहीं होती कि उसके 'वैचारिकता या काव्य-भाषा की कमी' है । उदाहरण एक से अधिक भी हैं, लेकिन सब ही उदाहरण सीमित, रघुवीरगदास के नये कविता-संग्रह 'आत्महत्या के विप्लव' में न ही विचार या भाषा दुर्बल है, न प्रचार-दुष्टि या प्रचार-दुष्टि है । मैं समझता हूँ कि ऐसी रचना हमारी काव्य-भाषा को समृद्ध कर और हम योग्य बनाएगी कि वह वैचारिकता का भार वहन कर सके ।

प्रश्न : समकालीन कविता की अस्पष्टता, निरर्थकता प्रतिक्रिया या उसमें अनात्मक अनुभव के अभाव का नये परिवेश की चुनौती से क्या संबंध है ?  
उत्तर : पहले प्रश्न के उत्तर में मैंने जो कुछ कहा है, किमहाल वही काफी होता चाहिए ।

प्रश्न : समकालीन कविता के रचनात्मक सबोट ने आत्मसाधन की स्थिति को पैदा की है, लेकिन उसकी मनोभूमि के पास अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित हो जाने के लिए अपेक्षित मजदूर नहीं है । हिंदी के एक प्रतिनिधि कवि के माने आप क्या कहना चाहेंगे ?

उत्तर : प्रतिनिधि की बात छोड़िये । आपका प्रश्न मैं ठीक-ठीक समझ नहीं पा रहा हूँ । जितना समझ पा रहा हूँ उसके उत्तर में यही कहना चाहता हूँ कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठा का लोभ ही गलत है, बल्कि वही अपने आपमें समकालीन कविता के बहुत से रोगों की जड़ है । आप अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की बात कहते हैं, हमारी कविता में राष्ट्रीय प्रतिष्ठा के साथ ही कितना है ? (बल्कि बहुत-सा ऐसा भी है जिसकी विदेश में चर्चा हो सकती है या हो भी रही है, लेकिन जिसे देश में साहित्यिक कचरा ही मानना होगा ।) आजादी के बाद विश्व के तितल एवाएक खुल जाने से हमसे बहुत से लेपक इस भ्रम के शिकार हो गये हैं कि हमें 'अंतर्राष्ट्रीय स्तर की प्रतिष्ठा' के लिए ही कुछ करना है और अपने देश या अपने साहित्य में प्रमाणित होना कोई महत्त्व नहीं रखता । मैं कहना चाहता हूँ कि किसी भी साहित्यिक रचना या किसी इतिहास के लिए अपने देश में प्रामाणिक होना आवश्यक है; बिना इसके अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा ही नहीं सकती । भारत का वही लेखक अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा पा

सहेगा जो प्रामाणिक रूप से भारतीय सेतक हो। हमारे जो चार-छह ऐसे सेतक हैं जिन्हें 'अंतर्राष्ट्रीय' कहा जा सकता है लेकिन जिन्हें भारतीय कहना कठिन होगा, वे तब तक वास्तविक अंतर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा नहीं पा सकें जब तक प्रामाणिक रूप से भारतीय सेतक भी नहीं माने जायेंगे।

जहाँ तक मेरा सवाल है, सेतक के नाते मैं अपने पाठक से सीधा संबंध रखना चाहता हूँ। और मैं ऐसा मानता हूँ कि मेरा वह पाठक विवेकवान् भारतीय पाठक ही है। यह नहीं कि विदेशी पाठक की मैं अवहेलना करता हूँ या कि विदेशी पाठक द्वारा पढ़ा जाना नहीं चाहना। लेकिन मेरा पहला पाठक, और मेरे लिखे हुए को सच्चाई और प्रामाणिकता का निर्णायक पाठक मैं उम्मीद से मानता हूँ और बनाए रखना चाहता हूँ जिससे कि मेरा सीधा संबंध हो सकता है। जिस तरह मनुष्य की उपेक्षा करके मनुष्य ईश्वर तक नहीं पहुँच सकता, उसी तरह सेतक अपने समाज के पाठक की उपेक्षा करके अंतर्राष्ट्रीय पाठक तक नहीं पहुँच सकता। निस्संदेह सीधे-सीधे अंतर्राष्ट्रीय पाठक तक पहुँच करने का लोभ बहुत बड़ा है और उसमें स्थूल लाभ भी बहुत दीखता है, लेकिन अगर 'मनोभूमि के किसी सपटन' की आवश्यकता है तो इतनी ही कि मन को कड़ा करके इस प्रलोभन से बचते हुए सही परिप्रेक्ष्य बनाए रखा जाए—यानी जो आगे है उसे आगे और जो आसपास है उसे आसपास देखा जाए। और मेरे लिए मेरे अपने समाज का पाठक आगे है और अंतर्राष्ट्रीय पाठक आसपास।

## नयी कविता के गीत : एक प्रश्नोत्तर

प्रश्न . वात्स्यायनजी, जैसा कि आपको पता है हम लोग नयी कविता के कवियों द्वारा समय-समय पर लिखे गये गीतों का सकलन 'नयी कविता के गीत' के नाम से प्रकाशित कर रहे हैं। हमारे विचार से यह सकलन उन पाठकों और आलोचकों का भ्रम दूर करेगा जो समझते हैं कि नये कवि छन्दबद्ध कविताएँ इसलिए नहीं लिखते कि वे लिखने में असमर्थ हैं। नयी कविता में स्पष्टता और गद्यात्मकता का दोष देखनेवाली आँखों को नयी कविता की कोमल और तरल भूमि के भी दर्शन होंगे। योकि हम मानते हैं कि नयी कविता के ये गीत भी गीततर नयी कविता के समान भाव के गहरे जीवन-सत्यो की अनुभूति और अनुकूल नयी-नयी अभिव्यक्ति की खोज की प्राकृतता से ऊँच होने के कारण बहुत लोकप्रिय नहीं हो सके हैं। सामान्य पाठक और आलोचक इन गीतों से समझ सकेंगे कि समकालीन समाज और जनता में जिस गीत के माध्यम से लोकप्रियता, सम्मान और अर्थ पाना अधिक आसान हो सकता था उसे छोड़कर ये कवि नयी कविता (गीत और गीततर दोनों प्रकार की नयी कविता) के बटवाकीर्ण मार्ग पर क्यों चल रहे हैं? आन्तरिक और सार्जन-सम्बन्धी विवक्षा क्या है? क्या और भी इस मन्त्रम की इस उपयोगिता और औचित्य पर ऐसा ही नहीं सोचने?

उत्तर : आप 'लोगों के भ्रम-निवारण के लिए' एक वाक्य-संश्लेषण छानना चाहते हैं, इस मन्त्र के घोर भाव की प्रशंसा में कर सकता हूँ। पर इस उद्देश्य से किये गए सफलता की उपयोगिता और औचित्य दोनों मेरी समझ में सीमित हो जाते हैं। एक तो जिसे आप भ्रम कहते हैं उसे मैं विनाश भ्रम नहीं मानता। एक हद तक यह बात मेरी समझ में मंती है कि नये कवियों में अनेक













ही हमारे दम की भाँति ही निरति की घोर उन्मुग टूपा । जैसे पहले सम्पूर्ण काव्य एक दृष्टि में, ध्वनि-वाक्-भाषा में केवल शैली में वर्णित एक अभिप्रायो की प्रयोग का एक गीत-मधुर बन गया था, वैया ही देन-भाषाओं के काव्य के साथ भी टूपा । सम्पूर्ण की भाँति ही इस काव्य का भी सकल घोर श्रेष्ठ धरा तो ऐसा था जो अपने मंत्राव-नन्तर, उत्ति-नमत्कार, वाग्बोधध्व्य की मयन तपुता ('जो नावक के तीर') और कभी-नभी शृंगारिक उत्तेजकता के वाग्ग्य धावुट करे । किन्तु यह धावुट भी विदग्ध विभासिता का ही एक रूप था । हम प्रसार के काव्य में भी मुक्तक का ही स्थान प्रधान था । ऐसे मुक्तक की गीति मुक्तक (निम्न) बदाधि ही कहा जा सकता , उममें प्रायः सदैव एक मयन नाटकीय स्थिति का ही मूढ-वैराग्य मर्मिक निदर्शन होना--प्राप्त मायाओं में भी ऐसे मुक्तकों का स्थान रहा , धनर यह था कि प्राप्ता में तनाव-भरी स्थितियाँ समकालीन समाज के वास्तविक जीवन में ली जाती थी, गीति-काव्य में वे घटना-स्थितियों और भाव-स्थितियों की वर्गीकृत पत्रिकाओं में ली जाने लगी ।

रीति में परिचित, स्थितियों-अभिप्रायो, नायक-नयिकाओं की भाव-भेदों के बोध में गति रखनेवाले 'सहृदयों' के लिए यह काव्य-समूह अब भी रस दे सकता है , इतना ही नहीं, अपनी कथा और मितवाक् व्यञ्जना-गाम्भीर्य द्वारा चमत्कृत भी कर सकता है । अक्षय के इतने अर्थार्थ प्रयोग के उदाहरण मगर के साहित्य में कहीं-कहीं ही मिलेंगे कभी-कभी यह साक्षात्कृता और परोक्षप्रियता इतनी दूर तक चली गयी है कि काव्य की वास्तविक वस्तु मानो अनुत्पन्न हो रही गयी है । पठित समाज में वाचिक परम्परा के बने रहने का कारण और आधार यह मुक्तक काव्य ही था अपनी मुगठित लघुता, मूढमता और उत्ति-वैचित्र्य के कारण यह काव्य आसानी से स्मृति पर अपनी छाप छोड़ जाता था अपनी मर्मिक व्यञ्जना और वैदग्ध्य के कारण उसका निरन्तर प्रचार होता रहता था । और अगर उनकी अनिदय शृंगारिता उसे मर्यादा तोड़ने की गीमा तक ले जाते थी, तो हमें ऐसे समाज के लिए एक अनिर्वक्त धाव-ध्वं मा जिसमें पुरुषों और स्त्रियों के जीवन और आनन्द-प्रमोद की लोको जमना-अलग-अलग होती जा रही थी । दो समान्तर वाचिक परम्पराएँ पहले भी थी, पर उम समय यह विभाजन स्तरीय था, एक धारा उपरी स्तर पर बहती थी, एक निचले स्तर पर , धन फिर दो परम्पराएँ समान्तर चलने लगीं पर उम विभाजन का आधार वर्गीय था, स्तरीय नहीं । पुष्प-वर्ग जमना ऐसे काव्य की घोर भुव रहा था जिसका आधार बूट व्यञ्जना और वैदग्ध्य था ; नारी-

हम चाहें तो वाङ्मय के इस विकास को समाज के विराम के साथ जोड़ सकते हैं। एक छोर पर मौर्य और गुप्त साम्राज्यों की समृद्धि, निरालसता और प्रसारशीलता, उन साम्राज्यों के सुप्रतिष्ठित, स्वतःप्रमाण, 'नैतिक' अभिराज्य (जिनके ही विनोद के लिए काव्य की रचना होती थी और जिनमें ही बहुरक्षित रहता था); दूसरे छोर पर परवर्ती राज्यों की निमात्रित, निर्दिष्ट और प्रायः युद्धप्रस्त भवस्था, ऐसे राज्यों के दुर्बलतर, बनान् प्रतिष्ठित और साधारणतया स्वरक्षा-निरत अभिजातवर्ग, जिनके सङ्घर्षों के पाम धरो महा-पन्न हितों की रक्षा की चिन्ता और धकान मिटाने के दो ही साधन थे - जो तो तीसरे पुरुषार्थ की धुरन्धर साधना, या शृंगार-काव्य। परन्तु अभिराज्य की के कमिक ह्रास के साथ-साथ समाज का मध्य और निम्नतर तार जो उठता आ रहा था; वाङ्मय के क्षेत्र में इसका धर्म या मौलिक काव्य के विभिन्न रूपों का विकास। हम कथन का यह आशय नहीं है कि कृति माहित्य में तब तक प्रकट हो गया था। आशय इतना ही है कि महाकाव्य भी अपने को ऐतिहासिक कथा के अतिरिक्त चरित की परिधि में न रखकर भाषाव्यवहार भाषा की और कल्पना-भूतक परिस्थितियों की भाग भी बनने लगा था, और गुवनक में रीतिगत वस्तु या अभिप्रायों से भागे बहुरक्षित तात्त्विक वास्तविक प्रकृति भी ठेठ मगर प्रभावशाली मुद्रावरे में अभिव्यक्त की जाने लगी थी।

स्वकृत शब्द, कविता के बाहर भी शब्द मात्र के रूप में स्थायी रूप से अधि-  
कारण और आशय हो जाने हैं, जबकि बिना, अथवा रागद्वि के बाहर  
उन्हीं दोनों का स्वयं की ऐसी आत्मनिक अभिवृद्धि बढ़ावित् ही होती है।

वाचिक परम्परा की कविता कभी एक धनु नहीं होती। छपी हुई कविता  
धनु होती है। वाचिक परम्परा में संप्रेषण स्वयं सहज है, छपी हुई कविता  
के साथ पढ़ने गद्ययोग की स्थिति उत्पन्न करने होती है जिसमें एक संप्रेषण  
हो गये।

वाचिक-श्रुत परम्परा में श्रोता दत्त व्यक्ति है संप्रेषण एक प्रक्रिया है  
जो एक मजीब, प्रत्यक्ष, व्यक्ति रूप में ईश्वर की ओर प्रवहमान होती है,  
जिस ईश्वर की सज्जन धारणा संप्रेषण के दौरान निर्यायात यनी रहती है।

लिखित-पठित वाच्य की परिस्थिति में मजीब इतर सत्ता की उपस्थिति  
का यह बोध नहीं रहता, कवि को एक आत्मन्तर श्रोता का उद्भावन करना  
पड़ता है, एक दत्त आत्मोपस्थिति की सृष्टि करनी पड़ती है। फलतः मुद्रित  
कविता किसी हृद तब अनिवार्यतया एक आत्मोत्सृष्ट परायेपन की माँग करती  
है जिसकी वाचित-श्रुत परम्परा में कोई आवश्यकता नहीं होती।

यहाँ आपत्ति की जा सकती है कि श्रुत परम्परा में भी ऐसा आत्मन्तर  
श्रोता अवश्य होता है, क्योंकि आत्म-ध्वनि तो गृजन-प्रक्रिया का ही भग है।  
यह आपत्ति नितान्त अनुचित भी नहीं होगी। पर दोनों अवस्थाओं के आत्मन्तर  
श्रोता अलग-अलग हैं। श्रुत परम्परा का आत्मन्तर श्रोता स्वभाव, रचि, अनु-  
भूति और सस्वार की दृष्टि से कवि से पूर्णतया एकात्म है, वह कवि का ही  
प्रतिरूप है, आत्म-स्वरूप है। दूसरी अवस्था में खड़ा ऐसा मानकर नहीं चल  
सकता, वह जिस इतर का उद्भावन करता है वह वास्तव में इतर व्यक्ति होता  
है, जिसके स्वभाव, रचि, अनुभूति और सस्वारों के बारे में उसे आश्वासन  
कोई नहीं और परिषय अपर्याप्त है, जिसके बारे में वह केवल धारा या धारणा  
कर सकता है। और हमें यह भी पहचानना चाहिए कि प्राधुनिक समाजों में  
इस धारा का आधार बहुत ही क्षीण होता है। लोकवादी चिन्तन वाच्य-ग्रन्थ  
तक पहुँचने के लिए बिना योग्यता या घटेंता की माँग नहीं करता—सहृदयता  
की भी नहीं—कम से कम किसी की कविता से दूर रखने के अधिकार का दावा  
नहीं करता। श्रुत परम्परा का प्राचीन कवि अपने को सहृदय समाज का

राग्य के भी साधन हैं, इसलिए काव्य सभी कलाओं में सबसे अधिक वेध रूप हो जाता है। पत्यर, धातु, वर्ण अथवा स्वर का मूर्ति, चित्र अथवा संगीत कलावस्तु से अलग और स्वतन्त्र अर्थ नहीं होता जैसा कि शब्द का होता है; इसीलिए दूसरी कलाओं के उपकरणों की अपेक्षा शब्द का सृजनात्मक प्रयोग कहीं अधिक जटिल प्रक्रिया होती है और बहुत अधिक स्तरों पर कठिन्तर नियन्त्रण मांगती है। दूसरी ओर यह भी है कि शब्द की स्वायत्त अर्थवत्ता यह सम्भावना भी पैदा करती है कि कवि अनेक स्तरों पर नियन्त्रित शक्ति का प्रयोग कर सके। कविता मूर्ति अथवा चित्र की अपेक्षा कहीं अधिक स्तरों पर अर्थवत्ता हो सकती है और अर्थ का संप्रेषण कर सकती है—इसीलिए कि काव्यार्थ, शब्द में पहले से वर्तमान वाच्यार्थों के सुनियन्त्रित संयोजन से रचित और उत्सृष्ट नया अर्थ होता है। कविता पूर्ववर्ती अर्थों, क्रमों और कोटियों को नष्ट किये बिना एक नयी व्यवस्था में रखकर नये अर्थ, क्रम और कोटि की सृष्टि करती है : पुराने अर्थ मिटते, बदलते या स्थानच्युत नहीं होते, पर कविता रूपी नयी सृष्टि में उतना ही, वही, तभी और उसी मात्रा में सुनते, ध्वनित और स्वरित होते हैं जितना कवि नयी व्यवस्था में चाहता है।

नयी असाधारण शक्ति की यह सम्भावना अपने साथ शक्ति के स्वशासन की सम्भावना की चुनौती भी लाती है जिसका सामना कवि को करना होता है। कवि की ओर दूसरे कलाकारों की समस्या का अन्तर स्पष्ट करने के लिए पुराने यादगारों के ढग का एक दृष्टान्त लिया जा सकता है। एक युवा एक युवती से विवाह करता है, परिवार और समाज में बधू के रूप में उसे परिचिन कराता है। बधू के रूप में उसके स्वीकार किए जाने में कोई कठिनाई नहीं होती : समाज में कुछ लोग उसे कन्या के रूप में जानते भी रहें हों या स्मरण भी कर लें तो भी स्वीकृति में कोई बाधा नहीं आती। किन्तु अब उस कन्या की यात सोविए जो एक भूतपूर्व केसरी से विवाह करता है और समाज में उसे बट्ट की प्रतिष्ठा दिलाना चाहता है। इसके लिए केसरी नयी परिभाषा से बड़ी अधिक प्रयत्न अपेक्षित होगा : नये अर्थ की छाप इतनी प्रज्वल, इतनी बाधक होनी होगी कि एक नये रूप, नयी दृष्टि का सूजन कर गये—यह नया रूप और नयी दृष्टि भी अतीत को सम्पूर्णतया मिटायेगी नहीं, पर छाया-प्रशासन एक नये परिदृश्य में स्थावर, नये सम्बन्धों की सृष्टि करके, उसे एक नया भी-अभूतपूर्व मूल्य दे देगी। और ऐसा पति यदि बनने प्रयत्न में लगेगा यह भी सम्भावना है कि समाज के लिए यह बधू उस परतों वही अधिक धारण और समीचीन हो। और यह सत्य है।

देवी आ गयेगी। भारतीय वाचिक परम्परा का छन्द शास्त्र की दृष्टि में निरीक्षण करने की दीगता है कि छन्द का नियमन जमना अधिक बड़ा होना गया और फिर गेयता की ओर विशेष झुकाव देया गया; इस वृत्त का एकाधिक आवर्तन हम देख सकते हैं। वैदिक छन्दों में मसृत छन्दों की घोषणा कही अधिक मौन और स्वच्छन्दता रही; फिर उत्तर काव्य काल के छन्दों में गेयता बढ़ी गयी।<sup>१</sup> यही वृत्त प्राकृतों और अनन्तर आधुनिक देश-भाषाओं में दुहराया गया। क्या इसका कारण यह हो सकता है कि छन्द की कठिनता ने वाचक को जमना गायन की ओर प्रेरित किया—कि छन्द की कड़ाई जमना वाचन में जो स्वतन्त्रता छीनती जा रही थी उसे फिर से प्राप्त करने के लिए वाचक ने गान की शरण ली? यह अनुमान ही है, किन्तु इसकी सगति आधुनिक काल में हमी किया की आवृत्ति में देखी जा सकती है कुछ कवि जिस स्वतन्त्रता के लिए बंधे छन्द छोड़ते हैं, उन्हीं को प्राप्त करने के लिए अन्य कवि तगीत का सहारा लेते हैं। अवश्य ही यह प्रवृत्ति एक पुराने प्रश्न को नया करके सामने ले आती है—कि कविता और गीत में क्या अन्तर है? यो इस प्रश्न का उत्तर बहुत कठिन या अस्पष्ट तो भारत में भी नहीं है, पर वाचिक परम्परा में कवि जिन मुविधाओं का शानियों से उपभोग करता रहा, उन्हें एकाएक भूल जाना या छोड़ देना आसान नहीं था।

तो नयी भाषा की खोज सबसे पहले कवि और काव्य-रसिक के एक नये सम्बन्ध की पहचान थी। क्योंकि सामाजिक नया या और उससे सम्बन्ध दूसरा था, इसलिए कवि-कर्म की भूमि दूसरी हो गयी थी : कवि एक नये देश में आ गया था इसलिए एक नयी भाषा उसे सीखनी थी। कवि को नयी परिस्थिति पहचानने में थोड़ी देर लगी, पहचानने के बाद उसे स्वीकार करने की क्लेशप्रद प्रक्रिया में थोड़ा और समय लगा। उधर सामाजिक ने—रसिक समाज ने—भी कविता के साथ श्रुत-सम्बन्ध बनाए रखने का प्रयत्न किया जबकि अन्य

१. काव्य पर भाटक के—श्रव्य काव्य पर दृश्य काव्य के—प्रभाव का भी एक महत्वपूर्ण स्थान रहा; भारतीय परम्परा में नाटक स्वयं नृत्य संगीत से सघन रूप से सम्बद्ध रहा। नाटक में अभिनय (वाचिक और आंगिक) की आवश्यकताओं ने सुनिश्चित यति आदि पर बल देकर छन्द को बतने में योग दिया। साथ ही नाट्य रूपों के सहारे प्राकृत और लोक काव्य के गेय छन्दों में त्रि-संस्कृत काव्यवाचन पर प्रभाव डाला। छन्द की कड़ाई और गेयता के सहचक्रास की यह एक और झुलसा रही।



अधिकारी मानता था, समाज न मिलने पर अकेले एक थोता से (बहुभोजन-तर में) संतुष्ट हो सकता था :

उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा  
कातोह्यं निरवधिविपुला च पृथ्वी ।

पर आज कवि यही चाहेगा कि उसकी कविता-पुष्पक अधिक-से-अधिक व्यक्ति खरीदें, भले ही—पर जाने दीजिए, स्वयं कविता सिमता हूँ तो दुःख बनावे क्यों सामने रखूँ ! श्रुत परम्परा का कवि तो कह सकता था अरिस्तो कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख ! पर श्रुत से पडित तब आते-आते परिस्थिति कैसे बदल जाती है, यह स्पष्ट करने के लिए कवित्व की उक्ति के समक्ष बायरन की दो पक्तियाँ रख देने के बाद और कुछ कहा अनावश्यक हो जाता है :

इट्स ए बंड्स विंग डु सो योर नेम इन प्रिंट :

ए बुक्स ए बुक्स, वो देयर्स मयिंग इन्ट ।

(छापे में अपना नाम देखना भी बड़ी बात है : किताब किताब ही है, फिर चाहे उसके भीतर कुछ न हो !)

: ३ :

इस विवेचन के बाद भी यह बात कुछ असंगत लग सकती है कि जिस संस्कृति के पास ऐसी सम्पन्न, बहुविध और सुसूत्र वाचिक वाच्य-परम्परा रही हो, उसे एकाएक नयी भाषा की आवश्यकता पड़ने लगे । यह दुःख धर्मार्थ ही उस समस्या के मूल में थी जिसे कवि अपने समक्ष यो रत्न सजता था : "मेरे पास एक समृद्ध परम्परा है जिसे न मैं भूसा हूँ न मेरा धोना, लेकिन जो नयी परिस्थिति में न मेरे लिए उपयोग्य रही है न मेरे समाज के लिए आवश्यक या मयेष्ट । ऐसी स्थिति में मैं कैसे निरतूँ ?" ('जैसे रचना बच' नहीं, 'जैसे निरतूँ ?') किंग भाषा में ? किमची भाषा में ?

इसका ही स्त्री-स्त्री के सम्बन्ध में करके दाने सुन्दर के पूर्ण विगम के बाद  
 के ही दुरु कर दिया गया था। अर्थात् वाचिक परम्परा की कविता का निर्माण  
 का अर्थ है वह देने के बाद केवल एक ठोस शैली का आधार दृष्टि पर जसा हुआ  
 दिखाई देता था। वाचिक के इस वाचिक अनुभव में और वाचिक वस्तु कविता  
 के वाचिक अनुभव में विगम गहरा बनता है, इसे स्पष्ट करने का भागान  
 महीना है। महीना की उपलब्धि करने सामने रहता। कृष्ण महीना की महीना  
 कविता के लिए उन्हें इसी दृष्टि में विगम या बर्णन करने देगिए। न शीर्षक,  
 न विगम का आधार, न विगम-विगम, न कविता का विचार, न वाचिक-मीमा  
 का महीना, नदी कविता के लिए नदी पक्ति का वाचिक महीना भी नहीं। ऐसे  
 विगम का वाचिक कविताओं को देने का प्रयत्न कीजिए—और भी कठिन  
 प्रयोग करना हो तो देने के लिए 'मुने' का प्रयत्न कीजिए, जैसा कि वाचिक  
 वाचिक के निर्माण का के साथ करने। इनके ही में मिर न बहरा जाये तो यह  
 भी समझ कीजिए कि वाचिक वाचिक में बर्णन एताधिक वाचिक का कथोपकथन  
 या प्रयोग भी होता था। वाचिक समय ऐसा वाचिक भी उसी पद्धति से बर्णन  
 दिया जाता था—कविता का कोई महीना, प्रयत्न-महीना या उचित-महीना कोई विगम  
 दिए बिना, कथोपकथन वाचिक वाचिक में इन महीना कोई स्थान नहीं था, वाचिक की  
 स्वर-व्यवस्था ही में सब बाते स्पष्ट कर देती थी।

छात्रों की प्रत्यक्ष नदी परिस्थिति में वाचिक-वाचिक—जिसे हम उत्तरी  
 स्थिति स्पष्ट करने के लिए यहाँ 'वाचिक-वाचिक' कह सकते हैं—वाचिक परम्परा  
 की छठी कविता में वे सब चीजें स्वयं स्पष्ट कर ले सकता था। वाचिक वाचिक  
 में इनकी पर्याप्त सुविधाएँ थीं। एक तो बंधा हुआ छन्द धारणा का स्वयं स्पष्ट  
 कर देता था। पक्ति-मीमा स्वयं प्रकाशित हो जाती थी, यतियाँ और वाचिक के  
 विराम तक करने की घोषित कर देने थे। (वैदिक पाठ-पद्धति में तो सब  
 विराम निश्चित ही थे, और बड़े अक्षरों द्वारा वाचिक उन्हें वाचिकान् कर लेता  
 था।) फिर अक्षरों और रीतियों परिचित होने से और समस्याएँ भी स्वयं  
 निराकृत हो जाती थीं। दूसरे वाचिक में छात्रों के पार भी थोटा अनुपस्थित  
 वाचिक की गुरु लेता था। इन वाचिक की ध्यान में रखें तो इस पर आश्चर्य नहीं  
 होना चाहिए कि वाचिक पुराने परिचित वाचिक की ओर ही भुक्तता था। पर  
 कवि के लिए समस्या विकट और मजबूत थी। वह एक अपरिचित देना में आ  
 गया था, जहाँ लोग तो बहुत थे पर उनसे सम्पर्क का साधन उसे खोजना था।  
 जन-महाज में से उसे पाठक-महाज खोजना था; इतना ही नहीं, उसे अप्रस्तुत,  
 अनुपस्थित रहते हुए भी एक परिचित स्वर बन कर अपने सामाजिक तक

सर्वांग विराटों में गुलने बहुत पुरातन को छोड़ दिया था कि उन्हें विनीत हो जाने दिया था। उदाहरण के लिए हिमालय-महानी, आन्ध्रम घाटी जिन पों ने थे, हिमालय घाटी के पर्वतों का स्थान आन्ध्रम घाटी में से निगाह को घुलाने का स्थानों की जगह अपने मरचना अपने कथानकाने उन्नत प्रतिष्ठित हो गये थे। एक-एकियाँ निजने लगी थी और बड़ी तेजी से बोलू लक्षणाँ बमने लगी थी : जिन घरों में पढ़ने की परम्परा नहीं थी उनमें भी शिक्षाँ निजकाएँ पढ़ने लगी थी जहाँ पुराने केवल घगवार देने से घोर बड़ भी घर में बँगाकर नहीं। बीमबी लगी के आरम्भ की यह स्थिति थी। पर जहाँ तक कविता का प्रश्न था, उनका पढ़न-पाठ्यादन अब भी बाबि-यूठ पुरातन में घोर मातृत्व-मातात्रि परिस्थिति में हो होता था। कवि-मन्त्रनों घोर बाध्य में लगी थी घूम घाटी के पीछे दगक तक रही : श्रोताओं की सखा हजाराँ तक होगी थी घोर बाध्य बाधन भी कभी-कभी रात-भर होता रहा था—प्रभाती के साथ ही समा विराजित होती थी। कविता की पुरतकें बिजती ली थी, पर साहजों की रधि पुराने घोर बाधक परम्परा के सुपरिचित बंधों में ही अधिक थी, समकालीन काव्य की घोर नहीं। यह केवल कविता घोर उममें भी 'अप्रमाणित' कविता के प्रति दाँका के कारण नहीं था। कारण यह भी था कि प्राचीनतर काव्य में से अब भी मुद्रित रूप की मोट से भी कविता का अवगार सकते थे, जबकि नवतर काव्य उनके लिए घटपटा, अपरिचित घोर कष्ट-प्राप्त था—इसके बावजूद कि इस लिखित काव्य की भाषा उनके लिए अधिक परिचित, साधारण मोलबास के निकटतर हो सकती थी। बल्कि यह भी कहाँ जा सकता है कि अपरिचित काव्य-रूप में परिचित भाषा की उपस्थिति केवल घोर असमंजस ही उत्पन्न करती थी।

मुद्रण के प्रारम्भिक दिनों में बाबिक परम्परा की कविता उसी ढंग से जाती थी जिस ढंग से वह हस्तलिपियों में लिखी जाती थी। काव्य-मन्त्रियों का कोई विचार नहीं था, न कोई विराम-चिह्न थे; पृष्ठ की चौड़ाई घोर प्रसर या टाइप के आकार के अनुसार एक-एक पंक्ति में हाशिये से हाशिये तक समुक्त संख्या में प्रसर अँटा दिये जाते थे। विराम-चिह्न केवल एक था—पूर्ण विराम के लिए लंबी पाई—और वह छन्द के अन्त में आता था—जोकि मुक्तक काव्य में कविता का भी अन्त था। और कभी ऐसा भी होता था कि नया

की गति में अत्यन्तान्वित परिवर्तन होते हैं, पर यह भी बात उनकी ही सच है कि वाचिक-श्रोत और चाक्षुष-पठित स्थितियों में काल-बोध का एक बुनियादी अंतर है जिसका गौरव पर अधिक स्थायी प्रभाव पड़ता है।

वाचिक में काल-बोध का कितना महत्त्व है यह हर वाचक जानता है। पर इस मन्दर्भ में काल-बोध केवल तनाव के संचय और अपचय का नियन्त्रण मात्र है; हम जिस काल-बोध की बात कह रहे हैं उसका क्षेत्र वही अधिक व्यापक है। भारतीय सन्दर्भ में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि काल की चक्र गति की कल्पना का और सचय को केवल एक आभास या अस्थायी अवस्था मानने का एक परिणाम यह था कि हमारा काल-बोध पश्चिम के ऐतिहासिक कालबोध से सर्वथा भिन्न था। इसी अन्तर का एक परिणाम यह था कि हमारे नाटक में दुःखान्त अथवा टुँजेडी का नितान्त अभाव है। प्राचीन भारतीय कविता में सरचना अथवा निर्माण (स्ट्रक्चर) का एकांत अभाव था; हम यहाँ तक कह सकते हैं कि वाचिक परम्परा के लिए 'स्ट्रक्चर' की परिकल्पना बिल्कुल विदेशी है। वाचिक परम्परा में छोटे मुक्तक काव्य के प्राचुर्य का—या कि यों कहें कि महाकाव्य और मुक्तक के बीच के किसी काव्य-रूप के अभाव का—कारण है। मुक्तक एक स्वायत्त काव्य-रूप है, उसके लघु आकार में एक कसाव है जो संरचना की माँग नहीं करता, दूसरी ओर प्रबन्ध काव्य मूलतः लड़ों के जोड़ से बनता है और उसकी संवरना बड़ी शिथिल होती है। उनमें कई 'मग' होते हैं, अनेक छोटे शिखर धाते हैं पर ऐसा नहीं होना कि मधुरी रचना को प्रवृत्ति अनिवार्यतया एक मुनिश्चित अरम-विन्दु की ओर होनी हो। यहाँ तक कि संस्कृत नाटक भी वहाँ नहीं समाप्त हो जाता जहाँ पश्चिमी दृष्टि से पढ़ना पूरी हो चुकी है क्योंकि तनाव बिगड़ चुका है। तनाव का अन्त अपने-आप में सचय का निराकरण नहीं है। संस्कृत नाटककार का उद्देश्य भावों का रेषण (कैपामिस) न होकर एक रम-स्थिति सम्पन्न करना था—एक सत्वीय परम्परा स्थापना नहीं, एक सादास्थ उत्पन्न करना था।

परिवर्तित काल-बोध से संचित कविता की अवधारणा सम्भव हुई : कविता के स्थापत्य की आवश्यकता पड़ी। नि मन्देह पश्चिमी—अर्थात् यूरोप—परम्परा में और पश्चिमी काव्य-साहित्य से हमारे बढ़ते हुए परिवेश ने भी हम प्रतियोगिता में योग दिया, इसका विवेचन यहाँ अग्रगण्य होता है।

उत्तरी के अतिरिक्त में काव्य के अभाव और प्रकार में परिवर्तन के इस

पहुँचना था।

क्या कवि के लिए यह सम्भव होता—अगर उसकी निष्ठा उसे ऐसा प्रयत्न करने की अनुमति दे भी देती—कि वह वाचिक परम्परा का ही कवि बना रहे, अनुपस्थित वाचक स्वर बनने का अभ्यास कर ले ? किसी कवि ने प्रश्न ही इस रूप में अपने सामने रखा होगा या नहीं, यह तो हम नहीं जानते; पर हिन्दी काव्य के विकास को सामने रखते हुए हम कह सकते हैं कि कुछ कवि अग्राय एक लम्बे रास्ते से या काफ़ी भटक कर ठिकाने पर आये। कुछ ने निराला चाहा और पाया कि वे लिख नहीं सकते; कुछ ने लिखा और पाया कि वे पढ़ नहीं सकते—पढ़ने से अभिप्राय यहाँ संतोषजनक वाचिक प्रस्तुतीकरण से है, एक ऐसे सामाजिक के समक्ष जिसे पूर्व-कल्पित 'आत्म-श्रोता' के मुकाबले 'वाचिक-श्रोता' कहा जा सकता है।

: ४ :

कवि और सामाजिक का नया सम्बन्ध मुद्रण का केवल एक परिणाम था। और भी गहरे परिणाम थे। भाषा के भीतर भी परिवर्तन हो रहे थे। चिन्तन की और ज्ञान के ग्रहण की परिपाटियाँ भी बदल रही थी। यह बात कवि के बारे में विशेष रूप से सच थी। कविता देखने और जानने की एक नयी प्रणाली है—और नहीं तो इसीलिए कि वह नये सम्बन्धों को रचती या प्रकाश में लाती है। मौखिक-श्रोत अवस्था से वास्तुप-पठित अवस्था में सन्नमन, ज्ञान से एक नये प्रकार के सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है। इसलिए अनिवार्य था कि कवि की दृष्टि और संवेदना में परिवर्तन हो। नये ज्ञान-सम्बन्ध के साथ नयी वाक्य-रचना आई जिसने छन्द ही नहीं, चिन्तन-पद्धतियाँ भी बदल दीं—और इसलिए सभ्रंषण की पद्धतियाँ भी।

बैधे छन्द से, लय और ताल से, तुक या अनुप्रास से और यति से मिलने वाली सुविधाओं का, और उन सुविधाओं के अलम्य हो जाने के परिणामों का, उत्तेज ऊपर किया जा चुका है। माना प्रचार के विराम-सूत्रों की सम्भावना का भी—जो कि पहचानी जाने ही आवश्यकता बन गयी—भाषा-रचना पर प्रभाव पड़ा : केवल काव्य-भाषा पर नहीं, साधारण प्रयोगों के व्यवहार में पदों की पूर्वापारता के बोध पर भी। कवि यही तर्क कहा जा सकता है कि इनके प्रभाव से हमारी द्वात-प्रक्रिया में भी परिवर्तन आ गया। मुन तो द्वात-प्रक्रिया का सम्बन्ध शरीर की धार्मिकता की आवश्यकता से है, किन्तु उसकी प्रविष्टा पर हमारे धर्मगत का गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः तो नहीं मान सकते हैं कि भाषाओं के अथवा अन्य प्रकार के विकास की प्रक्रिया में भाषा

महान् कवि, धर्मार्थ विद्वत् (जीवित इति) का अन्वेषण एवं वक्ष्य है कि कवि का एक अन्वेषण य केवल कवि ने ही किया है वरन् कवि ने उस विद्वत् को भी जीवित ही कर दिया है, उस जीवित का अन्वेषण करने की भाँसा करने ही है ।

सैद्धान्तिक विवेचन की हर कड़ी का उदाहरण विभिन्न भारतीय साहित्यों की पिछले डेढ़ सौ वर्षों की गतिविधि से दिया जा सकता है। प्रत्येक देन-भाता में इस काल में वे परिवर्तन देखे गये जिनकी इस विवेचन से सम्भावना की जाती। प्रत्येक में कविता इसी प्रकार केवल वाचन की स्थिति में आविर्भूत होनेवाली एक सत्ता न रहकर एक वस्तु-सत्ता बन गयी। सारी प्रक्रिया को एक सूत्र में बाँधकर कहना हो तो कहा जा सकता है कि छपाई ने एक नया काल-बोध उत्पन्न करके कविता का स्वभाव बदल दिया। 'नया' काल-बोध न बहुरूप यह भी कह सकते हैं कि निरवधि और आवर्ती काल के बदले एक मासिक और ऋजुरेखानुसारी काल की परिकल्पना हमारे सामने उपस्थित हो गयी।

'वाचन की स्थिति में आविर्भूत होनेवाली एक सत्ता' होने के नाते शायद कविता सम्पूर्णतया कालजीवी होती थी; सम्पूर्णतया कालजीवी होने के नाते वह एक साथ ही काल के दो आयामों में जी सकती थी : एक वह काल जो वाचन के संप्रपण की अवस्थिति का था, यानी जिसमें कवि और सामाजिकों का सम्पर्क था; दूसरा वह काल जिसका वृत्त कविता प्रस्तुत करती थी, यानी जिसमें कविता की वर्णित वस्तु पटित हुई थी। दूसरे शब्दों में वह एक साथ ऐतिहासिक काल और सनातन काल में, आवर्ती और रेखानुसारी काल दोनों में, 'उत्तम' और 'दूरा' काल में, जी सकती थी। कवि और सामाजिक दोनों के बीच दोनों आयामों का सम्पर्क था। कवि द्वारा सनातन काल में अवस्थित सामर्थ्यविवर्तनको जगतः पितरों पार्श्वतो-परमेश्वरों की वन्दना जब ऐतिहासिक काल के वर्तमान में जागृतिप्रतिफलित होती थी, तब जैसे कवि के लिए, जैसे ही सामाजिक के लिए, देवताओं का सनातन और निरवधि वर्तमान और मानवों का ऐतिहासिक मासिक वर्तमान सम्पर्क बन ले सम्पर्क और सहजीव्य हो जाने में।

किन्तु मुद्रित कविता के आशुगच्छ के लिए विभिन्न कविता में यह सम्पर्क नहीं रहता। कुछ होकर वह एक स्थूल आयाम का लेनी है, और (रिक्त) के दूर आयाम के बड़े काम का एक आयाम को देती है। बदलाव विज्ञान की नई ज्ञान की वृद्धि का ही परिणाम होता है कि आशुगच्छ कविता के कुछ कविता का अर्थ विज्ञान का और अर्थ उदात्त का ही सम्पर्क होता है।

कविता, कविता (कविता) का अन्वय एक शक्ति है  
 कि कवि का एक अन्वय न केवल कवि से मिल गया है बल्कि कवि ने उस शक्ति  
 को भी अन्वय में कर लिया है। उस शक्ति का अन्वय करने की शक्ति  
 अपने ही है।



## आज के भारतीय समाज में लेख

अपने समाज में अपने 'सोच' की चर्चा करना सैल है : एक भूमिका भवा कर रहे होने की कल्पना होता है । पर समकालीन भारतीय समाज के संदर्भ की नहीं, अपनी हासत की चर्चा करना ही सायद अति तेजक पैगम्बरी का सपना देखता है वह वास्तव में करा

पहला सवाल तो यही उठता है कि 'समाज' में यह सवाल उठाना पाठक को केवल परिभाषा की देना नहीं है : वर्तमान परिस्थिति में विशेष अभिप्राय होने, 'सोसायटी' को 'बिनांग' करने का क्या अर्थ मोबेल पुरस्कार के पहले स्वीकार और फिर प्रशासन के इन शब्दों का प्रयोग हम स्मरण करें : "त्रिभुज समाज का मटी टु विच आइ बिनांग) वह इसे पर्मद नहीं करेगा..." क्या था ? क्या वह 'सोसायटी' को 'बिनांग' करना था यदि था, तो क्या वह उसी समाज का था, और केवल यदि नहीं, तो क्या समाज का अंग होने की बात करके वह स्पष्ट ही देना नहीं था । पर समाज का, और समाज का अ

यही स्थिति है, यद्यपि मंदर्म में थोड़ा अन्तर है जिसे स्पष्ट देख लेना उपयोगी होगा। पश्चिम में बौद्धिक अथवा कलाकार की समाज में शीघ्र-प्रभावितता का धर्म की गिरती हुई प्रतिष्ठा से निकट सम्बन्ध रहा। पश्चिम में रेनेसां (पुनरुज्जीवन) के साथ ही कलाकार की अप्रतिष्ठा का आरम्भ हुआ। उसकी निगति का अध्ययन इस सम्दर्भ में किया जा सकता है। पर हमी प्रक्रिया को एक दूसरे कोण से देखें तो रेनेसां से ही कलाकार के एक व्यक्ति के रूप में उत्थपन को भी जोड़ा जा सकता है, अर्थात् कलाकार एक ओर व्यक्ति के रूप में अधिकाधिक महत्व पाता गया, दूसरी ओर समाज में उसकी अव्यक्ति होती गयी। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि कला में व्यक्ति और व्यक्तित्व का विकास, ओर समाज में बौद्धिक का ह्रास, ये दोनों क्रियाएँ समान्तर चलती रही।

यह वेबल विरोधाभास है, क्योंकि दूसरा दोनों क्रियाएँ अयोग्याधिन है। भारत के लिए इस प्रक्रिया का एक विशेष महत्वपूर्ण पहलू यह भी है कि जब हमारा पश्चिमी साहित्य और संस्कृति से सामाजिक निष्ठा परिचय हुआ तब वहाँ लेखक बौद्धिक जगत् के नेतृत्व का अपना पद लेकर कलाकार (चित्रकार अथवा मूर्तिकार) के बाद दूसरा स्थान ले रहा था : यानी पश्चिमी मनुष्य से अपने घनिष्ठ परिचय के दौरान हमने यही पाया कि बौद्धिक जगत् में पहला स्थान चित्रकार-मूर्तिकार का है और लेखक का पद उसके नीचा है। इसके प्रतिकूल भारत के इतिहास और साहित्य की परम्परा में सर्वदा काव्य को भूमि बना का पद मिलता रहा और संस्कृति-सम्बन्धी विज्ञान-अनन की धारा सर्वदा कवि-मानस में ही कलाकार के जगत् की ओर बहती रही। वरि ही मनीषी था : एक ओर धर्म-गुरु और दार्शनिक, दूसरी ओर कलाकार की दुनिया के बीच सम्बन्ध के पद पर कवि घामीन था। पश्चिम में भी मध्यकाल में ऐसी ही स्थिति रही, पर हमने निष्ठा परिचय होने तक—१८वीं-१९वीं शती तक—परिचयि बढल चुकी थी। वह काम कला, साहित्य और गोप्य-तत्त्व सम्बन्धी बहुत से नये विज्ञान-अनुशीलन का काम था, पर नये विचारों-मिथ्याओं का विकास मेलक ढांग नहीं, चित्रकार-मूर्तिकार ढांग दिना आ रहा था। और ये विचार का विज्ञान-साहित्य में प्रमुख स्तर मुक्ति-विचलता की ओर नहीं, मुक्ति-विचलता में निश्चित हो काव्य-साहित्य की ओर बह रहे थे, अर्थात् पारम्परिक नया उभरती बह रही थी। इस प्रक्रिया में काव्य का रंग ह्रास से स्पष्ट सम्बन्ध है कि कला व्यक्तित्व को व्यक्तिगत के रूप में ले रही थी।

प्रश्न यह है कि कवि का सीधा सम्बन्ध क्या समाज से, सोसायटी है या कि सामाजिक से—सॉडिएस से ? यह भेद केवल शब्दों का नहीं है। और सामाजिक का सम्बन्ध सम्प्रेषण का बुनियादी सम्बन्ध है जिसमें भी उपेक्षा नहीं हो सकती—कम-से-कम कवि के द्वारा तो कदापि नहीं। चीन काल में कवि एक अभिजात पुरुष था और एक अभिजात स्त्रियों के काव्य-निवेदन करता था : वह साधारण माँगता था कि इस सहृदय सामाजिक सामाजिक सहृदय रसिक हो। इसका मान उसे था कि इस सहृदय सामाजिक वर्ग के बाहर भी दूसरे लोग हैं ; इसलिए हम चाहे तो कह सकते हैं कि समाज का अस्तित्व तब भी था। पर कवि को समाज से प्रयोजन नहीं था, सामाजिक वर्ग से ही था—सॉडिएस से था। उसे यह भी आता था कि एक दूसरे (उसकी दृष्टि में निम्नतर) स्तर पर, लोक-स्तर पर, काव्य प्रस्तुत करनेवाले दूसरे कवि भी हैं जिनका अपना सामाजिक वर्ग है। लोक-सामाजिक के समुदाय काव्य प्रस्तुत करने वाले लोक-कवि की एक समानता दुनिया थी। एक वर्ग में दोनों प्रकार के कवि एक ही समाज के अंग थे, एक ही 'सोसायटी' को 'बिलान' करते थे; पर वास्तव में वे दो अलग संसार थे और समाज अथवा सोसायटी केवल एक पारिभाषिक अवधारणा थी जिसकी सत्ता नहीं थी, या थी भी तो न शास्त्रीय कवि और उसके अभिजात स्त्रियों के लिए प्रयोजनीय थी न लोक-कवि और उसके लोक-सामाजिक वर्ग के लिए।

अगर सभी बसाओ का मूलोद्गम यज्ञ सत्त्वा से हुआ, तो इस बात का अपना विशिष्ट महत्व है। पारिषद में भूत को पुनः प्रस्तुत अथवा पुनः रज्जीवित किया जाता था। और धनी के इस आश्रय में सभी प्रकार के शिल्पी-बसावारी को अपना बीजल प्रदर्शन करने का अवसर मिलता था—कवि, नाटककार, नट, नर्तक, बाजीगर और युवक, बूढ़, नाग, बहेनिये, मातृकार, धीवर, वेबट सभी समाज में भाग लेते थे।

१. यज्ञ में गुजरने संबंध पर सामाजिक व्यवस्था है भूतानि धारा ११।
२. दे० चन्द्रकान्त, ऊपर उल्लिखित, तथा लिखने की धीन १११।

एक शब्द तो न, मुझसे मे था, दूसरी तरफ वाचिक-श्रुत परिस्थिति के लिए—सांस्कृतिक श्रवण के लिए—रचा गया था। 'वचन' देने में नहीं थे, धीरे-धीरे मेरी ऐसी रचना की और मभा में प्रस्तुत की, पर भाषा, मुझसे, वाचिक परम्परा और मयकानीन स्थिति का सर्वोत्तम और सर्वाधिक सख्त परिष्कार उसकी कविता में हुआ। उसका सम्मान भी बँसा ही हुआ। 'वचन' उस काल के सर्वाधिक लोकप्रिय कवि रहे, लोकप्रियता और गरिमा का जो विरोध झुका देना जाना है उसका कोई प्रश्न ही उनके सामने नहीं आया।

परन्तु एक पीढ़ी बाद? 'वचन' अब भी लोकप्रिय है, पर भाज उनकी लोकप्रियता की भिन्न वह काव्य नहीं है जो वह अब लिख रहे हैं, बल्कि जो उन्होंने पश्चिमी वर्ष पहले लिखा था। भाज भी सोच उनमें उनकी कविता सुनना चाहते हैं, पर इधर की निगी कविता नहीं, उनका आग्रह उमी कविता के लिए रहता है जो उनकी पुरानी परिचित है। यह महीं कि वह कविता इधर की रचनाओं से श्रेष्ठतर है—बस से कम सदैव तो नहीं।—पर वह कविता काल के लिए, वाचिक परिस्थिति के लिए लिखी गई थी। थोड़ा-सा से से अधिकतर मुपटित होंगे, विद्वान् होंगे, विदेशी काव्य से—विशेषतया अंग्रेजी काव्य से—परिचित होंगे, अंग्रेजी कविता के पुस्तको से ही पढ़ कर ग्रहण करने होंगे और पढ़ना ही पसन्द करेंगे होंगे—ब्रितानी कवि द्वारा सुनाई गयी आधुनिक अंग्रेजी कविता उनके बानों को चटकाए जान पड़ेगी। पर 'वचन' की कविता के सुनना ही चाहेंगे, और वही कविता जो वाचिक परिस्थिति के लिए लिखी गयी थी। इस स्थिति को जरा कवि की ओर से देखिए कवि ने तो छपाई-मुद्र के तर्क को स्वीकार कर लिया और उसी के अनुरूप कविता लिखने लगा, पर सामाजिक की स्थिति में द्वेष रह गया। एक हद तक इस द्वेष को इस बात से भी जोड़ा जा सकता है कि शिक्षित पाठक की शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी रहा, पर एक हद तक ही, और फिर कारण जो भी रहा हो, कवि और श्रुतिता के बीच जो बाधा खड़ी हो गई वह तो हो ही गयी।

आधुनिक भारतीय भाषा और अंग्रेजी के बीच जो खाई है, वह इस बाधा को धीरे-धीरे बनाती है; इसकी चर्चा हम अन्यत्र कर चुके हैं। अंग्रेजी में शिक्षित-दीक्षित होकर, अंग्रेजी-परिचित पाठक-वर्ग के लिए भारतीय भाषाओं में ही रचना करने का निर्णय एक गम्भीर निश्चय है, एक जागृत विवेक द्वारा

निरवधि, निरन्तर प्रवहमान, आवर्ती काल से सावधि, संज्ञित और अज्ञात काल तक की यात्रा काव्य की पारम्परिक परिकल्पना से प्राधुनिक परिभाषा तक की यात्रा है। एक आयाम से दूसरे में संक्रमण, परम्परा में वास्तविकता में प्रवेश है, जिसके साथ सामाजिक से अलग समाज की प्रयोजनीयता के सामने आ जाती है। छायावाद और प्रगतिवाद का इस सन्दर्भ में महत्व छायावाद ने यह पहचाना कि कविता भव व्यक्तिक अभिव्यक्ति होती रही है। प्रगतिवाद ने यह पहचाना और साबित कहा कि समाज एक नया है। हिन्दी काव्य-विकास में इन आन्दोलनों का यह धन-पसा था। समान्तर विकास अन्य भारतीय भाषाओं में भी हुआ। शास्त्र और निर्माणात्मकता में रहने के बदले हम एक युगीन और व्यक्तिपरक आयाम में आ गये; इसकी पहचान के साथ एक नयी भाषा और नये मुहावरे की आवश्यकता हुई जो हमें छायावाद ने, और प्रमुखतः 'निराला' तथा मुनिमान पन्त ने दिया। यह नया मुहावरा व्यक्तिगत था; उन्होंने यह सम्भव कर दिया कि व्यक्तित्वपरक, अर्थात् मुद्रणीय कविता लिखी जा सके। उन्होंने कविता के अस्तित्व की सत्ता दी, जिसका परम्परा में न स्थान रहा था न महत्व। प्रकार प्रगतिवाद ने हमें सामाजिक के बदले एक वास्तविक समाज की सत्ता दी। छायावाद ने अन्तर्मुख होकर एक वास्तविक व्यक्ति के भीतर अन्तर्मुख प्रगतिवाद ने बहिर्मुख होकर एक वास्तविक समाज की ओर ताका। इन आन्दोलनों से यह दोहरा सत्ता-बोध—या परवर्ती मुहावरे का आगमन अभिव्यक्ति-बोध अथवा अस्तित्व-बोध पाकर ही हमारे लिए वैसी वास्तविकता सम्भव हुई जैसी हमने की। यह ध्यान बात है कि सत्ता-बोध अस्तित्व-बोध दोनों ही हैं, और अन्तर्मुख या बहिर्मुख उगते भिन्न जलाने वाली हैं। यह एक ध्यान अभिधान है।

वाक्य ने विभिन्न काव्य तथ की यात्रा की बात हम पहले कर चुके हैं। इन यात्रा में अलग-अलग होनेवाली मध्य-स्थितियों का, उनके अन्तर्मुखीय यात्रा का और इनमें अलग-अलग मध्यस्थियों का अलग-अलग महत्व और भूमिका है। मध्यम-युग में, जब लोग कविता लिखते नहीं, मध्यम-युग में कविता लिखते हैं। मध्यम-युग में, जब लोग कविता लिखते हैं, मध्यम-युग में कविता लिखते हैं।

## विज्ञान और हम

आज यह कहना कि 'विज्ञान ने धार्मिक जीवन में एक क्रांति ला दी है' मानो पिट्टी में किए से पीमना है। पर हठ करके थोड़ा-सा भी आगे सोचने पर दीप्तता है कि ज्ञान वैसी स्वयमिद नहीं है कुछ स्पष्टीकरण मांगती है— और स्पष्टीकरण के साथ कुछ सीमा-निर्देश भी। पहले तो यह कि धार्मिक जीवन में क्रांति नहीं आयी, जीवन में क्रांति आने से ही यह धार्मिक हुआ है। हमारे यह कि अपनी विदलेपन-वदति द्वारा पहले यह मिद करके कि कुछ भी यह नहीं है जो वह दीप्तता है या माना जाता रहा है, कि सब-कुछ बिन्ही छिपी हुई, धन्वी पर दुनिवार शक्तियों द्वारा सवासित है जिन्हे केवल विज्ञान नियन्त्रित कर सकता है, अब विज्ञान वहाँ पहुँच गया है जहाँ वह मानो यह रहा है कि इन शक्तियों को नियन्त्रित करने की जिम्मेदारी विज्ञान की नहीं है। अर्थात् क्रांति द्वारा यह प्रमाणित करने से ही, कि एक प्राकृतिक नियम न्याय या धर्म है जिसके बाहर कोई या कुछ नहीं जा सकता, विज्ञान ने हमें एक न्यायातीत, धर्म-रहित सम्पूर्ण नियम-विहीनता के अतल गत्त के किनारे ला खड़ा कर दिया है।

क्या यही विज्ञान की यात्रा का लक्ष्य था और हो सकता था ? क्या यही विज्ञान की खोज है ? आज वैज्ञानिक भी इसका उत्तर 'हाँ' में देते सन्नोच करेगा, और यह विदम्बना है कि जो पहले विज्ञान के बटु धालोजन थे वे विज्ञान से इतने अलग-थलग हो चुके हैं कि वे भी आज विज्ञान पर यह आरोप लगाने सक्तायेंगे।

विज्ञान की यात्रा के कुछ मील के परवरो की ओर हम देख सकते हैं। न्यूटन और उसके ऊर्जा सम्बन्धी मिद्वान्तों ने ईश्वर को अस्पष्ट कर दिया :

विज्ञान की जो खोरी बहुत गिना गयी है, उन के कारण का तो इस  
 सामने की बात है कि कम्प्यूटर के द्वारा कोई कविता बनाई जा सकती है।  
 'कोई' कविता। कोई गद्य भी बनाया जा सकता होगा। लेकिन यह सत्य है  
 है तो मरी गलत कहने के लिए कि कम्प्यूटर जो बनाता है और कवि जो रचता  
 है उनमें अन्तर क्या है। कम्प्यूटर तो मरी चीज है, पर किम्वदन्ती है  
 वह बड़ा घाड़न है उस मर्क की गुपराई-गाराई, उसके गीतों की पंक्तियाँ उन्नीस  
 सती के मणिपत्र भी कर रहे थे। घन कहें कि कविता की बाध्यता  
 सभी गहवान भी मरी थी। हम मानें कि उसमें बाध्यता हो  
 है, गीतों हो सकता है। पर जहाँ तक कम्प्यूटर द्वारा कविता के निर्माण  
 बात है, यह स्मरण रखना आवश्यक है कि कौन सी बाध्यता कविता के निर्माण  
 कि विषयों के आधार पर बनती है। कम्प्यूटर के हर निर्णय का आधार  
 ऐसे निर्णयों की एक समीचीनी है जो पहले से किये जा चुके हैं। कवि की  
 रचना एक दृष्टि की सृष्टि है : विषय और वरण वही सृजन-क्रिया का ही  
 अंग है। कवि-कृति पहले से किये जा चुके निर्णयों पर आधारित निर्माण नहीं  
 है। और यह कम्प्यूटरों के सामर्थ्य के परे की बात है। क्योंकि यद्यपि पूर्ण  
 निश्चित विकल्पों के आधार पर ही काम कर सकता है, कवि सृजन-कर्म के दौरान  
 विकल्प और वरण करता है। इस अर्थ में कवि वास्तविकता की सृष्टि कर  
 है। कम्प्यूटर केवल उसे प्रस्तुत करता है। जब-जब अष्टा काव्य रचा जा  
 है, तब-तब यह सर्जनात्मक वरण होता है; यद्यपि तब-तब मानवता का न  
 करण बल्कि पुनः सर्जन होता है। और अनवरत नवीकरण की यह घटना नहीं  
 सम्भावना ही आज साहित्य की प्रयोजनीयता का अंग है। अगर किसी  
 को आज लेखक के 'रोल' का पद दिया जा सकता है तो इसी : कि  
 मानव मात्र के अविश्व नवीकरण की सम्भावना हमारे सामने प्रस्तुत  
 रहे।

वीथ, नैतिक, मास्कृतिक और शब्द का डर न हो तो आध्यात्मिक मूल्यों का तदनुरूप विकास नहीं हुआ। यह अनमेल ही बहुत से 'आधुनिक' रोगों और वैषम्य की जड़ है; बल्कि स्वयं एक रोग है। पर यह भी 'माधारणतया' ही सही है, जैसे कि विज्ञान सम्बन्धी स्थापनाएँ। वास्तव में अध्यात्म तत्त्व में भी गहरा परिवर्तन हुआ है। पश्चिम में धर्म की एक—और हमारे जाने सर्वोत्तम—आधुनिक परिभाषा है 'टोटल बनसर्न'। सब भूत्यों का भूल-सोत किसी बाहरी (या अन्तर्बाह्य भी) आत्यन्तिक स्वतः प्रमाण सत्ता को न बनाकर, जो कुछ है उसके प्रति चेतना के सम्पूर्ण लगाव को ही बनाना, जैसा कि ईसाई धर्मनिरपेक्ष पॉल टिलिय ने किया, विज्ञान से कदम पीनाकर चगते हुए विज्ञान के मूल्यों में अलग धर्म के (अतः आधुनिक नैतिकता के) मूल्यों को प्रतिष्ठित करना है। और धर्म के अथवा श्रद्धा के, मूल्य कुछ हो सकते हैं तो विज्ञान में अलग ही हो सकते हैं : धर्म और विज्ञान की कसौटियाँ न एक-दूसरे को गच्चा साबित कर सकती हैं, न झूठा—दोनों के जीवन-बुल अलग-अलग हैं और उन दिग्गु पर बेबल स्पर्श करते हैं जिग पर हम गड़े हैं।

यह नया 'सम्पूर्ण लगाव' उस 'सम्पूर्ण प्रतिबद्धता' की पट्टी बड़ी है जो हमें अपने वक्तमान सबूत में बचा सकती है, जो अरेनेरेन को पुष्कर या दूद नहीं होने देगी, न अपरिचय को परायापन, जिसके कारण हम अपने या आज के समाज की हर नैतिक प्रतिज्ञा को अमान्य करके भी अनैतिक या प्रतिनैतिक या नीति-निरपेक्ष होने की छूट नहीं पा सकेंगे। बल्कि वही छूट चाहेंगे भी नहीं, क्योंकि वह चाहना अपने में छुट्टी पाता आत्मना शोषण—और आधुनिकता का राज-रोग यही है कि हम अपने किसी आत्म या आत्मनिक अस्तित्व का दावा साबित करने के लिए ही किसी समाज-प्रतिबद्ध अस्तित्व को गतात्मना चाहेंगे हैं।

यह सम्पूर्ण लगाव हमसे अना रह सके, या हम उसे फिर स्थापित कर सकें, तो विज्ञान-शासित आधुनिक जीवन में हम आनन्दित न होने सम्पूर्ण वैज्ञानिक भविष्य हमारे लिए एक अमान्य दुःस्वप्न न बनेगा। हम अपने धर्म के कि इनमान सुनिश्चिती और पर अस्था है अगर परिस्थितिहीन तो अस्था न हो सके देनी, हम परचाहें कि आनन्दार्थ के दुःस्वप्न में अपने बाह्य अभाव सम्भव हो रहा है कि परिस्थितिहीन इनमान को दुःस्वप्न को अमान्य न कर, कि अगर वह सम्भव अस्था है तो अस्था अना रह सके, जो सम्भव है वह सम्भव के रूप में प्रकट हो सके।





को प्रतिमा का महारा लेक रही प्रतिकृति होनी या हो सकती है। मानवैतर सभी प्राणी, जिन्होंने प्रतीक-मूर्ति की यह प्रतिभा नहीं पायी है, एक मीमिन जीवन ही जी सकते हैं। उनका जीवन स्थूल जगत् की जीवन अनुभूतियों तक ही सीमित रहता है। और वे अनुभूतियाँ भी एक से दूसरे को सम्प्रेष्य नहीं होती, क्योंकि सम्प्रेषण का कोई परिपक्व माध्यम उनके पास नहीं है। सन्तानों का एक स्थान उनके जगत् में है—जैसे मूँड के एक पशु का डर मकैन द्वारा पूरे मूँड को भयानुराग कर दे सकता है—पर भाषा के समकक्ष उनके पास कुछ नहीं है, क्योंकि भाषा का आधार प्रतीक है और उसका आविष्कार या प्रवर्तन पशु-जगत् में नहीं होता। भाषा से सम्प्रेषण का आरम्भ है, उमी से अनुभव के आदान-प्रदान का आरम्भ होता है, ज्ञान का आरम्भ होता है, परम्परा का आरम्भ होता है, विद्या का आरम्भ होता है, विज्ञान का आरम्भ होता है। और विकास की इस गहरी शृंगार की पहली कड़ी है प्रतीक। वही मनुष्य को स्थूल की जगह से मुक्त करता है, प्रकृति की पकड़ से मुक्त करता है। कहा है सा विद्या या विमुक्तये—विद्या वह है जो मुक्ति का निमित्त हो—और विद्या का आरम्भ प्रतीक-मूर्ति से होता है।

मेकिन स्थूल के बन्धन से, प्रकृति से, मुक्त होने का क्या अर्थ है? यह नहीं कि मानव-प्राणी प्राकृतिक नियमों से मुक्त हो जाता है या प्रकृति से बाहर चला जाता है। मुक्त होने का अर्थ यही है कि उसकी सम्भावनाएँ निर्वन्ध और पूर्वकल्पनातीत हो जाती हैं। अनन्त जगत् के द्वारे क्षितिज उसके समक्ष खुल जाते हैं।

इसी बात को एक दूसरी तरफ से देखकर भी समझा जा सकता है।

किसी भी जीव की शरीर-रचना को देखकर उसके सम्भाव्य जीवन का काफी गहरी चित्र-श्रील ने सकते हैं। बल्कि पूरा शरीर न हो तो कुछ अवयवों में ही हम उसकी जीवन-सम्भावनाओं की आकार-रेखा प्रस्तुत कर ले सकते हैं। जैसे प्राद्विम जीव-वैज्ञानिकों को नीत्रिए उसकी रचना ही हमें बता देगी कि यह प्राणी आहार ग्रहण कर सकता है, पनप सकता है और नाति-वृद्धि कर सकता है। स्नायु-तन्त्र और अस्थि-पिण्डों की अनुपस्थिति हमें बता देगी कि क्या-क्या वह नहीं कर सकता। इसी प्रकार जमज बीट-प्लग, रेंगे और दोहने वाले प्राणी, शील और गर्म रक्त वाले प्राणी, रीढ़ के बल सहे हो सकते वाले प्राणी, विभिन्न प्रकार के स्नायु-तन्त्रों या अस्थि-पिण्डों वाले प्राणी के जीवन को हम कल्पित कर सकते हैं। मानव-पूर्व वनीकम तक यह अनुमान-परम्परा मरुतनापूर्वक जारी जा सकती है। 'हरि' का एक विशेष अर्थ (द्वन्द्व)तेश्वर हम कह सकते

## मानव : प्रतीक-स्रष्टा

पशु और मनुष्य में भेद करते हैं तो इस बात पर बल देते हैं कि मनुष्य विवेकशील प्राणी है। पविषमी मुहावरे में—जैसे कि मानव के सातीनी होमो सेपिएंस में—तर्कना शक्ति पर ग्राह्य है तो भारतीय परम्परा में पर : धर्मों हि तेषामधिको विशेषो। पर तर्कना तो स्पष्ट ही विवेक-बुद्धि द्वारा नाम है; और धर्म पर बल देना भी वास्तव में विवेक पर ही बल देना। क्योंकि अपने स्वभाव की मही पहचान ही धर्म है।

और विवेक मानव के लिए एक चुनौती है एक स्यायी और सहजमान चुनौती, जो इससे प्रयत्नरही होती है कि वह भीतर से प्रकट होती है, निर्मल बाहरी सत्ता द्वारा नहीं प्रस्तुत की जाती।

चुनौती, ग्राह्य व्यक्ति पर एक उत्तरदायित्व डालती है। यदि विवेक की चुनौती मनुष्य की सहजात है, मानवत्व की प्रतिज्ञा है, तो उस उत्तरदायित्व के निर्वाह की, चुनौती के भुगतान की, ऐसी ही क्षमता भी उसमें होनी चाहिए—ऐसी ही सम्यक्तर सत्ता या प्रतिभा, जिसे भी हम सहजात कह सकें।

और ऐसी सत्ता, ऐसी सम्भावना मानव में है : विवेक का समकक्ष ही एक दूसरा गुण भी उसमें है जो पशु और मनुष्य में भेद करने का उतना ही निर्विकल्प आधार है।

मानव के स विवेकशील प्राणी—होमो सेपिएंस—ही नहीं है। पशु और मानव में इतना ही मौलिक अन्तर यह है कि मानव प्रतीक-स्रष्टा प्राणी है—होमो सिम्बोलिकम्। मानव प्रतीको की सृष्टि कर सकता है, यह ज्ञान उसे पशु में और भी महत्वपूर्ण ढंग से अलग करती है, और यह उसके सारे सांस्कृतिक और प्रातिभ विकास का आधार-विन्दु है। विवेक की प्रतिमा भी प्रतीक-सृष्टि





नैतिक जड़ प्राणी के महात्क तन्त्र और उसके कर्म-प्रेरक तन्त्र के बीच में एक प्रतीक-योजना तन्त्र था जाना है, तब उसने अनुभव 'घुद' नहीं रहने। और इसमें यह निहित है कि प्राणी अपने अनुभव को गही डम में न भी गममें जो छाप उगता महात्क तन्त्र ग्रहण करना है उसे गमभने में भूल करे और फलतः कर्म-प्रेरक तन्त्र को गवत निर्देश दे। यानी मानव ही पहला प्राणी है जो अनुभव के क्षेत्र में गवती कर सकता है। यह 'गवती कर सकते' की सम्भावना उसकी सञ्ज्ञात्मक सम्भावनाओं की और उसकी चरण की स्वतन्त्रता की माप भी है। प्राणि-जगत् में केवल मात्र मनुष्य सभ्य और सशुद्ध हो सकता है, और केवल मात्र मनुष्य गतिधियाँ कर सकता है।

मैंने धारम्भ में कहा कि उत्तरदायित्व की बात कर देने के उपरान्त सम्भावना की बात भी करनी चाहिए और उसी की ओर प्रवृत्त हुआ। अब कहना चाहता हूँ कि यह जो सम्भावना की बात मैंने की है, वास्तव में यह भी जिम्मेदारी की ही बात है। स्वतन्त्रता सबसे बड़ी जिम्मेदारी है, क्योंकि बिना स्वतन्त्रता के जिम्मेदारी ही नहीं है। अगर मैं स्वतन्त्र कर्मी नहीं हूँ, अगर चरण की स्वतन्त्रता मुझे नहीं है, तो अपने कर्म की जिम्मेदारी भी मुझ पर कैसे पाली है? स्वतन्त्रता इतनी बड़ी जिम्मेदारी है, नैतिक उत्तरदायित्वों की आधार-शिखा है, इसीलिए अधिमक्ष्य मनुष्य वास्तव में स्वतन्त्रता से डरते हैं बड़ी हुई लीक में ही उन्हें सुविधा और सुरक्षा दीवती है। यही शिक्षा की भी सबसे बड़ी परीक्षा होगी है। क्या हमारी शिक्षा ने हमें अपनी स्वतन्त्रता स्वीकार करना सिखाया है? उतना बल दिया है? उतना साहस दिया है? उतना मकल्प दिया है? आत्मनिरीक्षण का उतना निर्ममत्व दिया है?

मानव प्रतीक-भण्डा है, इसलिए अनन्त सम्भावना-मण्डप है; मुक्त है। यह सम्भारवान् मानव की नियति में निहित है स्वतन्त्रता से उसका घुटकारा नहीं है। इसमें क्या हमें चिन्ता का कारण दीलेगा—चिन्ता का, भय का, बेगानगी का, संश्राम का—उन सब अस्वस्ति भावों का जिनकी इतनी धर्षा आज के साहित्य में होगी है? या इसमें हम पायेगे स्कूनि, प्रेरणा, बल, उत्साह, आशा का उत्साह? यह प्रश्न एक देहरी है, देहरी पार करने-न-करने प्रश्न का उत्तर हमें पा लेना होता है।

क्योंकि हम देहरी के पार की दुनिया प्रतीकों की दुनिया है—जैसे कि देहरी के इस पार भी प्रतीकों की ही दुनिया रही। पर इस पार की दुनिया में प्रतीक हमारी शिक्षा के, संस्कार के, अनुशासन के, वात-गवय के साधन थे, इस पार प्रतीकों ने हमें बनाया; उस पार के प्रतीक परीक्षण के, तनाव के, शक्ति

के, व्यय के साधन होने, उस पार के प्रतीक हमें कसने और तोड़ना चाहेंगे। प्रतीकों का फिर सहारा लेकर कहा जाय कि इस पार प्रतीकों की आश्रम वाटिका थी, उस पार प्रतीकों का जंगल होगा। उदाहरण ले लें : आश्रम भी प्रतीक है, मातृभूमि भी प्रतीक है, राष्ट्र भी प्रतीक है, भडा भी प्रतीक है। जाति और वर्ण प्रतीक हैं, छमाछूत प्रतीक है, दाढ़ी-चोटी प्रतीक हैं, तिलक और सिन्दूर, फूल और चन्दन, धोती और पैट, टोपी, टोप और पगड़ी, राज्य-भाषा, मातृ-भाषा, बोली—ये भी प्रतीक हैं। लाल रंग, पीला रंग, केमरी, हरा, काला, सफेद—ये भी प्रतीक हैं। बसों की जोड़ी, माय और बछड़ा, दीपक, भोपड़ी, नाव—ये भी प्रतीक हैं। कुछ प्रतीक स्थायी या दीर्घकालिक हैं, कुछ केवल तात्कालिक महत्त्व के हैं, कुछ केवल प्रादेशिक या प्राचलिक। कुछ प्राकृत प्रतीक हैं, जो इसलिए 'शाश्वत' भी माने जा सकते हैं; कुछ पारम्परिक हैं, इसलिए एक स्थिरता और गाम्भीर्य रखते हैं; कुछ तदर्थ हैं और उनमें जब-तब मनमाना अभिप्राय भरा जा सकता है। लेकिन सभी में शक्ति है, निर्माण और कलह के बीज हैं : प्रतीकों के लिए युद्ध लड़े जाते हैं, जानियाँ बनती-मिटती हैं। संस्कृतियों के उदय-विलय का इतिहास बहुत कुछ उनके पूजित प्रतीकों के विकास-ह्रास का इतिहास होता है। और सब-के-सब प्रतीक हैं हमारी अपनी सृष्टि—क्योंकि मानवैतर कोई प्राणी प्रतीक-स्रष्टा नहीं होता। यानी प्रतीक हमने बनाये हैं, वे हमारी सुविधा के साधन और प्रमाण हैं—पर साथ ही हमारे जीवन का हर कदम प्रतीकों से बँधा है, प्रतीकों द्वारा नियन्त्रित है। प्रतीक की सृष्टि से हम मुक्त हुए : तब से यह सकट हमारे सामने है कि कहीं हम प्रतीकों के गुलाम न हो जायें।

भाइए, बल्लिए देहरी के पार : उस खुले सतार में जहाँ ही उस सरा में मज्जा साझाकार हो सकता है जो मानव की उपलब्धि भी है और ऋण भी, सृष्टि भी है और नियति भी। या कि यो कहें मर का घन है और नारायण का ऋण है : इस घन का व्यय ही इस ऋण का शोध है और मुक्ति का मार्ग दिगन्तगामी मार्ग।

---

बानोदिया महाविद्यालय, उदपुर के दोस्तान भाग्य से मरजित ।

## काल का डमरु-नाद

परोक्षप्रिया हि देवा. अथस्तद्विषः — मनुष्य भी परोक्षप्रिय है या नहीं इस पर विवाद हो सकता है, प्रत्यक्षद्विष तो वह नहीं ही है। पर किसी भी कला-क्षेत्र का कृत्रिम प्रतीको का आवर्णन पहचाने या न पहचाने, उनका उपयोग अवश्य करना है - हम चाहे तो इससे यह भी परिणाम निकाल सकते हैं कि कलाकार क्या चाहे या न चाहे, कला हमें देवों के कुछ निकटतर ले जाती है !

प्रतीक अनिवार्यतया अपने-अर्थभूतक होते हैं। एक अर्थ दूसरे अर्थ या अर्थों के बदले नहीं आता—प्रतीक रूपक नहीं होते—एक-अधिक अर्थ साथ-साथ भलकने हैं। दोनों के बीच एक तनाव का सूत्र रहता है और अर्थ उसी की प्रणाली से बहता रहता है, कभी इधर अधिक, कभी उधर अधिक। अर्थ के जितने अधिक स्तर एक-साथ भलकें, प्रतीक उतना ही अधिक प्रभविष्णु होता है। पर स्तर बहुत-से हों या केवल कुछ-एक, आवश्यक यह है कि सारे अर्थ प्रतीक में ही होने चाहिए, प्रतीक में ही सम्पूर्ण होने और भलकने चाहिए। मिस्र की भानि प्रतीको में भी सामुग्य, सास्य और सादस्य की एक स्वापरा, स्वयमिद, स्वयप्रवास व्यवस्था होनी चाहिए प्रतीक अपने-आप में एक स्वन प्रमाण दुनिया होना है।

आवर्ती काल की परिवर्तना परिचय के लिए अत्यन्त बटिन रही है। नृत्य के क्षेत्र में यह स्वीकार करना है कि सभी प्राचीन भस्त्रियों में आवर्तन



और पुनरात्म्य के मिश्रण पाये जाते हैं और प्राचीन अथवा प्रादिम जातियों को कलाओं को प्रभावित भी करते हैं। पर यह मानने में उसे हिवक होती है कि यह परिकल्पना उसके लिए न ऐसी परायी है, न ऐसी दुरोध; बल्कि इस मिश्रण का संस्कार उसकी चेतना में इतना गहरा पैठा है कि इसके प्रतीक आज भी उसके दैनन्दिन जीवन के अभिन्न अंग हैं। यह ठीक है कि ऐतिहासिक काल के बोझ के नीचे बहुत अधिक दबे होने के कारण यह प्राचीनतर स्मृति उसके चेतन मन में कुछ धुँपली पड़ गयी है; फलतः कुछ 'अन्ध-विश्वास' उसके चिन्तन में अस्वीकार्य होकर व्यवहार में प्रभावी बने रह सकते हैं।

मिवाह में प्रयुक्त जडाऊ छत्ता से लीजिए - 'इटर्निटी रिंग' में काल की अनन्तता उसके घावर्त्तन को मान कर ही सो चलती है। साधारण जीवन में प्रचलित दूसरे प्रतीक भी घावर्त्तन काल को मान कर चलते हैं। नैरन्तर्य अथवा अमरत्व का प्रतीक अपनी पूँछ को निगलता हुआ सर्प (चित्र १) : 'अन्त' तथा



चित्र १

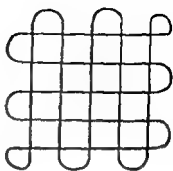
'आरम्भ' बन जाता है और काल-चक्र ही अमरत्व का चक्र बन जाता है। चिर-जीवन के और भी प्रतीक हैं, जैसे विना छोर की ग्रन्थियाँ इनमें भी मूल परिकल्पना एक अन्तहीन रेखा की है—और जिस रेखा का कोई छोर नहीं है वह वृत्त ही होती है, भले ही उसके घावर्त्तन को कितनी भी सफाई से छिपाया या सोड़ा-मरोड़ा जाये (चित्र २ क, ख)। हमारे शब्दों में

निरयता, नैरन्तर्य, अमरत्व, सभी का मूल आधार वृत्त है। यह भी कहा जा सकता है कि वही बुद्धि, जो काल की चक्राति मानने में हिवकनी है, मानने लगती है कि सान्त आयामों से परे काल की गति वृत्ताकार ही हो सकती है। सनातन इसके बिना नित्य हो ही नहीं सकता कि रेखा के दोनों छोर मिलें। इसीलिए गणितज्ञ को भी ऋजुरेखा की यह परिभाषा स्वीकार होगी कि यह 'अनन्त व्यास के वृत्त का खंड' है। गणित में भी घसीम का प्रतीक एक अन्तहीन ग्रन्थि या दोहरा छत्ता ही है।

प्राधुनिक पश्चिमी जीवन के व्यवहार में एक और बन्तु भी हमारी परिचिन है जिसका अन्तार हम बिहू से मिनवा है। वह है कायपरी (चित्र



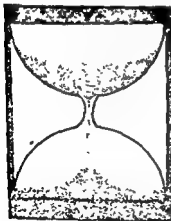
क



ख

चित्र २

३) जिसे हम निरन्तर उलटने-पलटने समते हैं। काल की यह नाप, जिसमें प्रयावर्त्तन की गुजाइश है, प्रकाशान्तर से आवर्त्ती काल को स्वीकार करती हुई चलती है। उसका आकार अगर गणित के चिह्न से मिलता-जुलता है तो क्या आश्चर्य !



चित्र ३

इस आकार पर थोड़ी देर घटकने का कारण था। पश्चिम से लौटकर हम अपने देश में इसी आकार की एक वस्तु पर आपका ध्यान केन्द्रित करना चाहते हैं—एक ऐसी वस्तु पर जो गहरा प्रतीकात्म्य रखती है। मदारी के हाथ में हमें देखकर आपको नहीं सूझा होगा कि यह कितना साधक प्रतीक है, पर नटराज मूर्ति के हाथ में हमें इसी (चित्र ४) काल-प्रतीक पहचानने में भी आप न झूके होंगे। लेकिन हमें मृष्टि का और ध्वनि विलय का प्रतीक क्यों,

जबकि हमें ठीक उलटा भी उलटने ही धींचिय के साथ माना जा सकता था ; और जब 'काल-उमर' हमें मृत्यु की ही याद दिलाता है, जीवन की नहीं ? उमर नाद का—नाद ब्रह्म का—भी गवेष दे सकता है और इगित मृष्टि का प्रतीक हो सकता है ; पर यों तो नटराज की सम्पूर्ण प्रतिमा ही लयमुक्त



चित्र ४

स्वर का प्रतीक है...तब हममें क्या प्रतीक की प्राप्ति-भर हो रही है— नटराज-मूर्ति में क्या प्रतीकार्य की प्राप्ति का बलाशेष थापा जायेगा ?

हमकी मूल रेखाश्रुति एक दोहरे शंकु की है, या शीर्ष में शीर्ष जोड़ते हुए दो शंकुओं की (चित्र ५) ।

अधोशीर्ष पाठकों के लिए यहाँ वेदम की पुस्तक ए बिचन के दोहरे शंकुओं का स्मरण कर लेना उपयोगी होगा ।

लेकिन वेदम के धूर्णित शंकु (चित्र ६)

—“प्रत्येक की नोक दूसरे की आध्यात्म-रेखा के मध्य में टिकी हुई” —काल का सम्पूर्ण प्रतीक नहीं बनते, न वेदम ने उन्हें ऐसा सिद्ध ही किया है । यह कहना भी कदाचित् सम्मत होगा कि असम्पूर्ण होने के नाते ये धूर्णित शंकु-युग्म किसी व्यायन, स्वतः-प्रमाण अर्थ का सम्प्रमाण नहीं करते, अतः प्रतीकरत्न को ही प्राप्त नहीं होते, केवल वेदम के उत्तर पक्ष के एक पहलू का रेखाचित्रण करते हैं । वेदम ने स्वयं इस आश्रुति को अपने ‘आचार्यों’ का ‘मूल प्रतीक’ कहा है; उनके कथन की अर्थवत्ता यही तक हो सकती है कि वह एम्पेडोक्लीस की उस विवादी-विवादी उभयचारिता का प्रतीकात्मक रूपचित्रण है जिसकी व्याख्या वेदम ने हेराक्लाइटस के सूत्र के सन्दर्भ में की है : “एक-दूसरे का जीवन मरते हैं, एक-दूसरे की मृत्यु जीते हुए ।”

किन्तु वेदम के परस्पर मद्ध शंकुओं से हमकी धार लीटें । हमकी धार, जहाँ से उसे पकड़ा जाता है, वह बिन्दु है जहाँ से उसकी जीर्ण-निरुद्ध और हममें घुमाये जाने पर दोनों धार आघात करती हैं । हमकी धार का प्रतीक है जिसे काल के आध्यात्म में सत्ता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है; कालजीवी सत्ता के प्रतीक के रूप में हममें केवल नटराज-मूर्ति के पूरे प्रतीकार्य की प्राप्ति नहीं करता बल्कि सार्थक रूप से उसका अंग बन जाता है ।

काल-प्रतीक के रूप में हमकी धार वर्तमान है—वर्तमान का क्षण—



नहीं करने, वर्तमान में करने हैं, वर्तमान के क्षण से करते हैं—इमर की बटि में करने हैं। बाप 'हमारी ओर भाते हुए संकुचित होता' नहीं घबराता; हमने दूर दूरों हुए विरतीनें होता घबराता है। दूर भारम्भ नहीं है, दूरतम निष्पत्ति है। त्रिरोपमिति के तक से यह भी सदाकाल समझ में आ जायेगा कि कति में द्वार की अवधि दुगुनी, नेता की तिगुनी और दूर की चौगुनी क्यों है। क्योंकि हम वर्तमान के अत्यन्त लघु क्षण से भारम्भ करते हुए शंकु के आकार का विचार करें तो स्पष्ट देखेंगे कि हमारा आकार निरन्तर फैलते हुए वृत्त प्रस्तुत करता है, जबकि येदस के शंकु 'निरन्तर समरतते हुए वृत्त' बनाते थे। युग जिनकी ही दूर का है, उतना ही उसका काल-विस्तार अधिक है। चतुर्गुण के बाद हम फिर बिन्दु में भारम्भ करते हैं। कति की अवधि को हम काल की दफाई मान लें, तो चतुर्गुण की माप १ क + २ + ३ क + ४ क = १० क होनी है, जिसके बाद हम पुनरारम्भ की स्थिति १ पर आ जाते हैं और चक्र का नया आवर्तन शुरू हो जाता है। इस प्रकार धून्य (०) निरन्तर अथवा गगनन का द्वार बन जाता है, धून्य के वृत्त से सनातन आवर्तन का सिद्धान्त उद्भूत होता है—जिससे अधिक युक्तिमय और क्या बात होगी ?

येदस ने (या कि हम भी क्या उसका अनुसरण करते हुए कहें 'उसके आचार्यों' ने ?) प्रत्येक शंकु को १२ राशियों में बाँटा है, और इस प्रकार वह '१३वें मडल' की बात करता है। यह १३ की संख्या कैसे सिद्ध होती है ? उसके मानचित्र में, जिसमें प्रत्येक शंकु का शिखर दूसरे के आधार के मध्य में टिका है, पहले शंकु का बारहवाँ खंड दूसरे के पहले खंड से मिलता है, पहले का बारहवाँ दूसरे के दूसरे से, पहले का दसवाँ दूसरे के तीसरे से; इस प्रकार दोनों की संख्या का जोड़ हमेशा १३ होता है। अर्थात् यह १३वाँ मडल बैसा

१. नटराज के साथ हम चतुर्भुज बिष्णु का भी ध्यान कर सकते हैं। सूर्य के पर्याय बिष्णु के चारों लक्ष्य भी काल के बिम्ब हैं। चक्र आवर्तकाल का घोलन करता है। शल-वलय निरन्तर प्रवृत्त काल का प्रतीकत्व करता हुआ हमारे काल-प्रत्यय के एक और पहलू को सामने लाता है। शंकु की सतह पर घूमती हुई चेतना (अथवा येदस की परिकल्पना के घूर्णित शंकु पर सीधी बढ़ती हुई चेतना) शल-वलय ही बनायेगी। हम केन्द्र से आरम्भ करते हैं अतः हमारा शल-वलय प्रसारशील होगा, येदस परिधि से आरम्भ करता है अतः उसका शल-वलय संकुचनशील होगा। हमारा 'कालोद्घम-निरवधि;' येदस का 'टाइम मस्ट हैव ए स्टॉप'।

वास्तविक अन्तिम-दश की रचना जैसा कि अन्तः १२ मन्त्रों का है, यह अविराम अनुशासक मन्त्र या वृत्त बन्धनाग्रभूत या अनुमानित ही रहता है। यह अन्तः-मन्त्रा अथवा नैऋत्य का वृत्त है, दूसरे शब्दों में यह हमारी काल-गणना का मूल बिन्दु है—वह प्रतीक बिन्दु जो अन्त को आरम्भ में परिणत कर देता है।

मानें काल-रक्षण की आहुति की घोर लौट कर हम इससे के उस कठि-बिन्दु पर लड़े हों जहाँ से हमारी चेतना अतीत अथवा भविष्यत् की घोर उन्मुख हो सके—परन्तु क्या वर्तमान के उन बेबन रूप को या सकना सम्भव भी है ?

वह बेबन क्षण, अत्यन्त वर्तमान, है क्या ? यदि काल-स्रोत अनिवार्यतया अतीत का अनुप्रवाही अथवा भविष्यत् का प्रतिप्रवाही है, यदि हमारी काल-चेतना अनिवार्यतया अभिमुख या प्रनिमुख है, यदि वह अनिवार्यतया स्मरण पर अथवा प्रतीक्षा पर आधारित है, तो उस केवल वर्तमान का बोध कैसे हो ? स्पष्ट है कि वर्तमान काल भूतकाल और भविष्यत्काल के बीच में है। तब अत्यन्त वर्तमान वह क्षण अथवा बिन्दु है जहाँ स्मृत काल और प्रतीक्षित काल का आत्यन्तिक सङ्गम होना है वह क्षण जिसकी न स्मृति है न प्रतीक्षा अथवा कामना। कोई ऐसा क्षण पाया जा सके—ऐसे क्षण को कोई या सके, आरम्भ-चेतन होकर स्मृति और आकांक्षा से परे जी सके, तो वह ऐसा व्यक्ति हो जायेगा शिवाजी छाया नहीं होनी—उसकी ऐसी शुद्ध काल-चेतना होगी कि वह काल-भुक्त हो जायेगी। क्योंकि जो अत्यन्त वर्तमान में, शुद्ध सत्ता में जी सकता है, उसके लिए दोनों शब्द क्षिप्त कर दीर्घबिन्दु में लय हो जायेंगे। सोन धम जायेगा, सत्ता रह जायेगी। इससे केवल बिन्दु में लय हो जायेगा, शुद्ध नाद रह जायेगा। ऐसे जी सकने वाला कालजित् होगा, जीवन्मुक्त होगा उसे चिर-न्तन वर्तमान में



को नहीं है,

नहीं बनने।

191 वेदक एक अन्तः-

निक स्थिति है; फिर भी इतना वह स्वीकार करेगा कि इस प्रतिज्ञा के ब-  
 करें तो उत्तर पक्ष अवश्य सिद्ध होता है—दूसरे शब्दों में वह प्रती-  
 भ-वत्ता स्वीकार कर लेगा। बल्कि 'जीरो आवर' के समकालीन मुहारे में  
 स्वीकृति निहित है : काम का कृणात्मक (—) आयाम और अनन्त (—)  
 आयाम जहाँ मिलते हैं, जहाँ न 'आमिष्यत्' की प्रतीक्षा है न विर-  
 स्मृति, वह निवृत्ताय केवल क्षण ही तो शून्य का क्षण है : जीरो दायर, ६  
 काल-इमर का कटि-बिन्दु।

टी एस एलियट को ऐसे वर्तमान का यत्किञ्चि आभास तो हुआ  
 इसका संकेत उसकी उन पंक्तियों में मिलता है जिनमें वह चेतन होने को  
 कहता है :

अतीत काल और भविष्यत् काल  
 चेतना का थोड़ा ही अवकाश देते हैं।  
 चेतन होना काल में जीना नहीं है।<sup>१</sup>

क्योंकि 'चेतन होना' सत्ता में जीना है। किन्तु चेतन होने को जो वर्णन  
 करते ही वह हम कासातीत अर्थ में चेतन होने की सम्भावना को  
 भी देता है :

किन्तु काल में ही गुलाब बाड़ी का क्षण  
 टिडुरते गिरजाघर की धूमिल बेसा का क्षण  
 स्मरण किया जा सकता है, अतीत और भविष्यत् में गुंथा ॥  
 काल के द्वारा ही काल को जीता जा सकता है।<sup>२</sup>

स्पष्ट है कि जब वह (मैट ऑगस्टीन द्वारा निर्धारित परिधि के कारण  
 'स्मरण किये गए क्षण' की बात करना है तब उगड़ा सारा तर्क दूबिन हो ३

# 1 Time past and time future

Allow but a little consciousness

To be conscious is not to be in time

—टी एस एलियट, बगर्डी

2. But only in Time can the moment in the time-garden  
 The moment in the draughty church as smokefall  
 Be remembered, involved in past and future  
 Only through Time is Time conjoined

, क्योंकि स्वप्न जो बात है—अतीत बात है—साथ बैठा है ही। बात का स्वरूप यदि स्वप्न है तो स्वप्न के द्वारा नहीं है (आकाशा के द्वारा भी नहीं), वह स्वप्न वर्तमान में एक आत्मचेतन अग्नि के द्वारा ही सम्भव है। जो स्वप्न है कि 'मुन्नाब बासी का क्षण' ऐसा एक क्षण रहा हो, किन्तु यह क्षण क्या तो उस क्षण में प्रातः काल-विजय उमी क्षण की थी, उमी अत्यन्त वर्तमान क्षण में विजयमान चेतन के अग्निबोध की विजय थी। उस क्षण का 'स्वप्न' बिना जायेगा तो 'काल में' ही होगा, 'प्रतीक्षा' या 'आकाशा' का जायेगी तो वह भी 'काल में' ही होगी, पर उसको जिया गया 'सत्ता' में जो निद्रा है, अनानन है। एनिमेट विजय की बात करना है अतीत विजय का स्मृति स्वप्न विजय नहीं हो सकती।

किन्तु क्या भारत में या भारतीय साहित्य में काल की इस परिकल्पना का प्रभाव परिमार्जन होता है? और अगर ऐसी परिवर्तनाएँ 'साहित्यिक गम्भार' वाले दर्शनशास्त्र' का भग हो भी तो प्रश्न उठ सकता है कि क्या समकालीन भारतीय चेतन पर उनका कुछ भी प्रभाव है—क्या समकालीन चेतन उनमें परिचिन भी है?

ऐसा तो नहीं कहा जा सकता—न उसकी कोई आवश्यकता होनी चाहिए—कि लेखक सचेत होकर ऐसे प्रतीकों को गड़ता है अथवा परम्परा के सन्दर्भ में उनका अध्ययन-विवेचन करता है। यह भी आवश्यक नहीं है कि उसमें उपनिषदों अथवा गीता का पारायण करके जाना हो कि वहाँ कालजित् अथवा जीवन्मुक्त की क्या परिभाषा की गयी है। लेखन पर इस काल-दर्शन का प्रभाव होने के लिए इतना पर्याप्त है कि लेखक के संस्कार में उसका योग हो—और इतना दावा अवश्य किया जा सकता है। यो तो गीता और उपनिषद सीधे भी समकालीन परिचेश के अंग हैं।

यह सम्भावना की जा सकती है कि धर्म-चेतना का ह्रास अनिवार्यतया जो निराशावाद पैदा करता है (क्योंकि सावधिकाल की गति एकोन्मुख है और मृत्यु की ओर है) उनका आशिक परिमार्जन दर्शन की 'साहित्यिक प्रवृत्ति' से हो सकता है—सौन्दर्यतत्त्व के चिन्तन से हो सकता है। आधुनिक काल की परिकल्पना धार्मिक सन्दर्भ से रहित होकर भी बोधप्रद हो सकती है। पश्चिमी साहित्य के एक दार्शनिक विवेचक ने कहा है कि "आधुनिक काल की चर्चा प्रायः मिथकीय वस्तु के साथ की जाती है"। हमें तो ऐसा नहीं होना—बन-बन-कम भारत में तो नहीं, यद्यपि उस विवेचक का यह प्रस्ताव संशयमय है कि "समकालीन साहित्य में जब मिथक का प्रयोग होता है तब अथवा उन्



ਪ੍ਰੋ. ਡਾ. ਬਰਕਾਤ-ਉ-ਫਤਵੀ ਨੇ ਫੈਲਾਵਾ, ਬਾਇਲਾਦ, ਪੰਜਾਬ



मायुनिष्ठ पादपाय गम्भिरा, त्रिगमे मृत्यु को नकारने का इतना प्रबल भाव है, जगत् की कोई ऐसी अवधारणा न कर सके त्रिगमे वह मृत्युन्मुख गति से ही इतर भुक्त हो सकता है। अतः इमका कारण यही हो कि मृत्यु का स्वीकार ही इसे गम्भिर बना देना है कि उसे हम एक पृथक् तरफ मानकर एक ओर रग सके, और हमारा सारा काल-चिन्तन उसकी गहरी छाया से प्रसिद्ध न हो जाये।

साँस का पुतला हूँ मैं :

जरा से बंधा हूँ और

मरण को दे दिया गया हूँ;

यह तो तथ्य है ही; इसे स्वीकार करके हम अलग रख दे सकते हैं। तभी तो हम मानव अस्ति के उस चिरन्तन वर्तमान में जी सकेंगे जिसमें जागना जीव-भुक्त होता है।

किर मैं सपने से जाग गया।

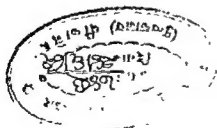
हाँ, जाग गया।

पर क्या यह जगत् हुआ मैं

अब से युग-युग

उसी सन्धि रेखा पर बैसा

किरण-विह्वल हो बैसा रहूँगा ?



लेखक को अन्य निबन्ध रचनाएँ :

त्रिरंजु (१९४३)

आत्मनेपद (१९९०)

हिन्दी साहित्य : एक आधुनिक परिदृश्य (१९६७)

मदरंग और कुछ राग (१९७०)

सम्पादित ग्रन्थ :

आधुनिक हिन्दी साहित्य (१९४२)

तार-सप्तक (१९४३)

दूमरा सप्तक (१९५१)

तीगरा सप्तक (१९५६)

पुष्करिणी (१९५६)

रूपाम्बरा (१९९०)